द्वितीय अध्याय : मध्यकालीन भारतीय संस्कृति परम्परा और काव्य

(क) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के प्रकाशन के तत्कलीन सामाजिक पृष्ठभूमि का अपरिहार्य महत्व है। यह सर्व विदित तथ्य है कि भारतीय संस्कृति समन्वयशील रही है। इस काल में अनेक परम्पराओं एवं धर्मो का विकास हुआ है। धर्म भारतीय संस्कृति का मेरूदण्ड है। धर्म की अभिव्यक्ति सम्प्रदायों में होती है। सम्प्रदाय ये धर्म को अपने–अपने ढंग से व्यक्त करते है। मध्यकालीन भारतीय संस्कृति की अभिव्यक्ति कला और साहित्य दोनों में हुई है। धर्म की अभिव्यक्ति साहित्य में विशेष रूप से होती है। यहाँ सर्वप्रथम मध्यकालीन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत किया जा रहा है तत्पश्चात् परम्परा एवं काव्य का प्रकाशन किया जायेगा। मध्यकालीन सांस्कृतिक प्रभाव भक्तिकाल में विशेष उल्लेखनीय है। संस्कृति के दो महत्वपूर्ण अंग है – धर्म और दर्शन। इन्हीं का प्रकाशन कला और संगीत में होता है। भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणाम स्वरूप भक्ति आंदोलन का सूत्रपात हुआ था, उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे–धीरे लोक प्रचलित भाषाएं भक्ति–भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनीं। कालान्तर में भक्ति विषयक विपुल साहित्य की बाढ़ सी आ गयी। यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी। शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन भी इससे प्रभावित हुए।

भारतीय धर्म साधना के इतिहास में भक्ति मार्ग का विशिष्ट स्थान है। वैदिक युग यज्ञ या कर्मकाण्ड से धर्मानुष्ठान होता था तत्पश्चात् प्राकृतिक उपादानों की देवता रूप कल्पना करके उनकी उपासना होने लगी। देवताओं की विनय और प्रार्थना लोगों के दैनिक जीवन की अंग बन गई। इस समय लोगों का ध्यान ऐहिक सुखों पर केन्द्रित था। वे बाह्य विधानों पर अधिक विश्वास करते थे। शुभाशुभ परिणामों में विश्वास के कारण यज्ञादि कर्मकाण्डों में श्रद्धा का अविर्भाव हुआ।श्रद्धा के इस पवाह में प्रथम बहुदेववाद तत्पश्चात् एक देववाद का प्रवर्तन हुआ। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निविष्ट करे। इसी क्रम में बहुदेववाद एकदेववाद में प्रवर्तित हुआ इन्द्र, देव, वरूण, मरूत, अग्नि सबको परमात्मा का अंग माना जाने लगा। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण हुआ। इसी की परिणपति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर वृत्तियों का स्थान क्रमशः कोमल वृत्तियां होने लगीं[1]।

[1] ऋग्वेद 1/164/43; 5/3/1–2।

जिसका प्रभाव भक्ति साधना की विधियों पर पड़ना स्वाभाविक था। भ्रमण–संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् में श्रद्धा–भक्ति का अभ्युदय हुआ। वैदिकोपासना ध्यान योग में परिणत हो गयी।

मोनियर विलियम्स के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती हे। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति–भावना आर्यों के दार्शनिक आध्यात्मिक विचारों के फलस्वरूप क्रमशः श्रद्धा उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान के ऐश्वर्य में भाग लेकर व्यापक भाव में परिणत हुई।

आर्य जब भारत आये तो उन्हें यहां की यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, असुर, काव्य, विद्याधर, आदि जातियों की नागर संस्कृति का परिचय मिला। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जातीय ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। दोनों संस्कृतियों के परस्पर मिलन से भक्ति परम्परा का विकास हुआ।

वैदिक भक्ति परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़ संस्कृति गर्भित पृथक भक्ति परम्परा का विकास हुआ। यह परम्परा ई0 पूर्व कई शताब्दियों से चली आ रही थी, जिसमें शरणागति समर्पण की प्रबल भावना पायी जाती थी और जो कालान्तर में दक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में लोक प्रिय बनी। ई0 सन् प्रारम्भिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परम्पराओं का मिलन हो गया था, जिसका निदर्शन आडयारों तथा अडियारों के भक्ति साहित्य में सुलभ है। इसके अन्तर्गत 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे शिव की भांति तमिल भाषा का शब्द ठहराया गया है। मायोन तथा 'तिरुमाल' को विष्णु का पर्याय बताया गया है। स्वयं भागवत को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित बताया गया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन भक्ति परम्परा का मुख्य प्रेरणा स्रोत है।[1]

भक्ति भावना के संदर्भ में पंचरात्र विशेष उल्लेखनीय है। इनका मुख्य उद्देश्य भक्ति–मार्ग का निरूपण करना रहा है। सहिताओं में देवालयों के निर्माण अराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन अर्चन की व्यवस्था बतायी है। इससे अवतारवाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। इधर भ्रमण संस्कृति और साहित्य के विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें किसी एक ही उत्स के भिन्न–भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाते। भागवत भक्ति का जो विकास दिखाया गया है वह महत्वपूर्ण तथा गंभीर है –

---

1. डा0 नागेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ : 172
2. वही : वही पृष्ठ : 88

उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके शता।
क्वचित्ववचिन्महराष्ट्रे गुर्जर जीर्णतां गता[1]।।

मैं द्राविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्णाटक में जवान् हुई महाराष्ट तथा गुजरात में कुछ वृद्धावस्था को प्राप्त हुई।

इस प्रकार भक्ति जो धर्म का अंग है जो भक्तिकाल की ऐसी संस्थान है, जिसमें संस्कृति के विभिन्न तत्व स्वतः स्फूरित होते रहते हैं। हम मध्यकालीन संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं। संस्कृति का प्रवाह समाज में होता है। दैनिक जीवन, रीति–रस्म, रहन–सहन, पर्व त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भारतीय समाज सुविधा सम्पन्न और असुविधा ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग राजा–महाराजा, सुल्तान, अमीर सामन्त और सेठ–साहुकार आते थे, जिनमें मनमाने ढंग से वैभव–प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक, राज्य कर्मचारी और घरेलू उद्योग–धन्धों लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा परम्परा का पालन कर संतोष की सांस ले लिया करती थी। अमीर और सामन्त सूती, रेशमी वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुबहली अंगूठियां धारण करते थे। उनकी पत्नियां रत्नजटित सुनहले कंगन तथा मूंगाजटित केथूर धारण करती थी। समाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे[2]।

यह विदित तथ्य है कि सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम होती है। कला, शिल्प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियां हैं, इन सबका क्षेत्र विशाल मानव समाज है, जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन–यापन करता है। भारतीय जीवन में समय–समय पर विदेशी विजातीय तत्वों के आते रहने के कारण परस्पर संघात होते रहे हैं, परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी शक्ति का संचार होता रहा है कि हम डूबते–डूबते भी उबरते चले आये हैं, निप्रभ या निस्तेजन होकर नवजीवन की अरूणिमा से महिमा मण्डित होते रहे हैं। इन सबके मूल

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ– 98
2. भागवत एकादश स्कन्दः श्लोक : 48

में हमारी समन्वय साधना की प्रवृत्ति उजागर रही है, जो ब्राह्मण युग (800 ई0पू0 से 600 ई0पूर्व तक) से ही उत्तर भारत में व्यक्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी–देवताओं के वाह्रय विधानों से विदक कर श्रमण–संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खोज निकालने का यत्न आरंभ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर दोनों कही क्षयमान हो गये। मौर्य साम्राज्य के विखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नये ओज और तेज के साथ अभ्युदय हुआ। पुष्पमित्र के शासन काल में समाज की सुव्यवस्थित करने के लिए सूत्रों स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की गई।[1] परवर्ती गुप्त काल में वैदिक धर्म का पुनरूत्थान हुआ और देवी देवताओं तथा देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्त प्राय धर्म व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। उन दिनों वैष्णव धर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति ग्रन्थों में लोक प्रचिलत विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया। ब्रह्मणेत्तर भ्रमणादि तत्वों से समन्वित ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नव ब्राह्मणवाद कहा; जिसका स्वरूप वैदिक परम्परा से विच्छिन्न न होकर भी भिन्न अवश्य था। सत्य तो है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित रूप में पुनरूत्थान नहीं हुआ था। बाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त भ्रमण द्रविड़ तथा आदि वासियों के मत और मान्यताएं परस्पर एकीभूत हो गई थीं। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएं इस प्रकार थी– 1. धर्मविशेष का लौकिकीकरण 2. अवतारवाद की स्वीकृति 3. देवलायों में देव प्रतीकों की पूजा 4. तीर्थादि की स्थापना 5. धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण। अधिकांश पुराणों की रचना का भी यही काल है। मध्यकालीन हिन्दू जीवन प्रणाली पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया। परम्परा दृष्टि भेद, रूचि वैचित्य देश काल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण का उन्होंने तदनुरूप पूजा–उपासना तथा कर्म–काण्डीय पद्धतियों को अपना कर उनमें दार्शनिकता का पुट दे दिया। मूर्ति पूजा तीर्थाटन, अवतारवाद, गो–ब्राह्मण–रक्षा, धर्म शास्त्रों का सम्मान और कर्मफल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएं थीं, जिनमें लोक विश्वास का भी योगदान रहा। साधु–सन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग–नरक, श्राद्धपिंडदान आदि इस युग की उल्लेखनीय

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 58

विशेषताएं है, जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन चक्र चलता रहा और इस्लाम के भारत–प्रवेश से पूर्व तक अविृत रूप में प्रचलित रहा।[1]

मध्यकालीन हिन्दू समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं। एक वह जो शास्त्रों का समर्थक हैं और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्वानुभूति का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष भी पौराणिक पक्ष है। परन्तु हम बहुधा यह पाते हैं कि दो पक्षों में परस्पर परम्परावलम्बन है। कभी जनघोषित विश्वास शास्त्र सम्मत बन जाते हैं, तो कभी शास्त्र विहित मान्यताएं जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं।

शास्त्र की दुहाई देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी आस्था के कारण विपक्षीअथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित उदार व्यवहार का शुभारंभ होता है। हमारे यहां आध्यात्मिक उपलब्धि को जीवन का परिष्कार माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिन्तन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध जुड़गया है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदान्त भी विकसित हुआ है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि औपनिषदिक विचारों में सर्पत्र मतैक्य नहीं है। इसमें समन्वय की स्थापना के लिए बादरायण (300 ई0) ने ब्रह्म सूत्रों की रचना की, जिस पर शंकराचार्य (788–820 ई0) ने शारीरिक भास्य लिखा इसमें निरूपित व्याख्या का इतना महत्व हो गया कि सर्वसाधारण में वेदान्त का अर्थ शंकर–वेदान्तसमझा जाने लगा। इसमें शब्द प्रमाण को मुख्य मानकर उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है। शंकराचार्य की भांति कुमारिल भट्ट ने भी हमारी विचारधारा को दूर तक प्रभावित किया है। परवर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या–प्रति व्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वेत, केवलाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर उसकी भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुर्नजन्म आदि के सिद्धान्त प्रायः ज्यों के त्यों रह गये हैं।

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 98

ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति, कुल, देशकाल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है। धर्माचार अपना नैतिकता समाज परक है और धर्म साधना व्यक्तिनिष्ठ है। साक्ष्य और साधना का एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। साधना का विकास रूचि, शिक्षा और संस्कार के अनुसार कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं – देवाराधन, संस्कार मूलक क्रिया और नित्य नैमित्तक कर्म। देवराधान के भी दो रूप हैं – आत्मविश्वास मूलक योग और आराध्यानुग्रह मूलक भक्ति।[1]

आत्म रक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवाराधन की ओर प्रवृत्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय इच्छाओं, उद्देश्यों, विचारों, संवेदनाओं से सम्पन्न तथा भावापन्न मान लिया गया। भगवान के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ।

शक्ति सम्पन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणोत्तर कालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान कर उन्हें कल्याणप्रद शक्तियों से सम्बद्ध कर देने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कुल देवता और ग्राम देवता इन्हीं की उपज है, जिनके प्रतीक पिण्ड और पदार्थ बने। इसी प्रकार सशक्त तथा सहायक पशु–पक्षियों की आत्माओं से टोटमवाद और फिटिशवाद को प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातु विद्या और जटिल साधना–विधान का विस्तार हुआ।[2] संस्कारग्रस्त जनता में आज भी भूत–प्रेत, पिशाच, चुड़ैल, डाकिनी–शाकिनी तथा उनसे माण दिलाने वाले ओझा आदि के झाड़–फूक, गंडा–ताबीज और मंत्र तंत्र की मान्यता पायी जाती है। साध्य की उपेक्षा या साधना पर अधिक बल दिया जाता है जो कभी–कभी जड़ता को जन्म देती है। इसीलिए साधना के विकृत और विस्तृत रूप (कर्मकाण्ड) की आलोचना उपनिषद काल से लेकर श्रमण युग तक होती रही, जिसे हम सन्त वाणियों में सुनते हैं मध्यकाल में हिन्दू समाज की वृहत्तर इकाई गांव था और लघुता इकाई परिवार जो

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 99।
2. कार्पेण्टर : कम्पेरेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134।

जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। अयोग्य पति की पत्नि होकर भी नारी सम्बन्ध निर्वाह करने को बाध्य थी।[1] सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी उसकी सन्तान से बना हिन्दू समाज मध्यकाल की विडम्बना रहा है।

इस काल में धर्म साधनों की बाढ़ सी आ गयी और गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ साधनाएं भी प्रवेश पा गयीं। वाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्डादि वाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। ऐसी परिस्थिति में गुरू गोरखनाथ ने वाह्य साधनों को गौण ठहरा कर मन की शुद्धता और आचरण की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझाः ''अवधू मन चंगा तो कठौती में गंगा, बाध्या मेंल्हा तो जगन्त–चेला।'' कबीरादि सन्तों की चेतना भी प्रकाशन्तर से मन की गहना को स्वीकार करती की चेतना भी प्रकाशन्तर से मन की महत्ता को स्वीकार करती जान पड़ती है :

कहे कबीर कृपा भई, गुरू ज्ञान कहा समुझाई।
हृदय भी हरि भेटिये जो मन सुनतै नहिं जाई।।

पहले से चली आ रही सभी प्रमुख धर्म साधनाएं मध्कालीन धर्म साधना में विद्यमान थी लेकिन मूल रूप में किंचित परिवर्तन था। वृहदारण्यकोपनिषद् (2/4/11) के वेदमार्गी 'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसी कुछ धर्म साधनाएं भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे। फिर शैव, शाक्त, भागवत साधनाएं भी विद्यमान थी। गाणपत्य जैसे प्रमुख धर्मों के अनुयायी भी विद्यमान थे। योग–तंत्र और भक्ति की प्रवृत्तियां भी प्रचलित थीं। ज्ञान में तप और चिन्तन–मनन की प्रधानता थी। योगतंत्र अपने क्रियात्मक विशेषताओं के साथ विद्यमान था। शिव आदि योगी माने जाते थे और पूर्व मध्यकाल में शैव धर्म भारत व्यापी बन गया था, जिसे राजाश्रय के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रमाण शिला लेखों में ढूंढे जा सकते हैं। योग का किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान

---

1. कार्पेण्टर : कम्पेरेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134।
2. डा0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ 100 से उधृत।

और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा जाना आवश्यक समझा जाने लगा था। भक्ति और योग साधना में योग का कोई न कोई तत्व ढूंढ निकालना कठिन नहीं है। यहां तक कि बौद्ध जैन तक यहां से अप्रभावित न रह सके थे। भक्ति मुख्यतः भावना मूलक थी। अन्य धर्मों में भी इसका एक न एक रूप पाया जा सकता था। परन्तु जितना बहुविद्य विकसित रूप वैष्णव धर्म–विशेषतः भागवत् सम्प्रदाय–में लक्षित हुआ उतना कदाचित् अन्यत्र संभव न हुआ। विभिन्न धर्मों और सम्प्रदायों के बीच भी अनेक धर्मों या सम्प्रदायों का बनना मध्यकालीन विशेषता बन गई थी।

मध्यकाल में अरूचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सामंजस्य बिगड़ जाता था और सन्तुलन बनाये रखने के लिए बार–बार समन्वय की ओर उन्मुख होना पड़ता था। समन्वय भारतीयों के संस्कार था, इसलिए उसे लाने में विघ्न–बाधाओं के रहते हुए भी दुर्लंघ्य कठिनाई नहीं होती थी। वैदिक वाङ्मय में इसके बीज विद्यमान हैं। 'तंत्रालोक' में भी इसका उल्लेख है ''एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम्।''[1] शक्ति संगम–तंत्र का यह उदाहरण भी ध्यान देने योग्य है –

कदाचिद्वात्म आत्म ललिता पुंरुपा कृष्ण विग्रहा।
लोक सम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा।।[2]

दुर्गा सप्तती (11/5) में भगवती दुर्गा और वैष्णवी को एक ठहराया गया है।

'अध्यात्म रामायण' में भी राम और शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गई है।

यही भावना 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है। परवर्ती रचनाओं में ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध है। 'साधन माला' में वर्णित पद्यनृतेश्वरशिव के रूपान्तर हैं। इसी प्रकार उड़ीसा के पंच सखाओं का 'शून्य पुरूष' ब्राह्मण–श्रमण संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है। मध्य प्रदेश के नाग राजाओं द्वारा अवलोकितेश्वर की पूजा शिव पूजनकी भांति है। एलोरा के समीपस्थ वेरूल के कैलास–मन्दिर में शिव के मूर्ति के शीर्ष स्थान पर बोधि

---

1. तंत्रालोक, पृष्ठ 88/1।
2. (सं.) नगेन्द्र द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास में उद्धतृ पृष्ठ 100
3. दुर्गा सप्तती, (11/5)

वृक्ष स्थित है। चम्बा–नरेश अजय पाल के राज्यकाल में उत्कीर्ण ब्रह्मण, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप कहा गया है। इसी प्रकार हरिहर पूजन में भी शैव–वैष्णव धारा का संगम लक्षित होता है। संक्षेप में ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे समन्वयात्मक प्रेरणा से भक्ति आंदोलन अनुप्राणित होता है।

मध्यकालीन धर्मों में हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई प्रमुख थे, जिनका सम्पर्क द्वारा उन्मुक्त था। लोक विश्वासों पर आधारित लोकधर्म की निष्ठा किसी धर्म विशेष के प्रति न थीं। उसका धर्माचार परम्परागत और चमत्कार प्रभावित था। आदिवासियों का धर्म अधिकतर उन्हीं तक सीमित रहता था। सम्पर्क द्वारा थोड़ा बहुत उनमें परिवर्तन होता रहता था। जाने–अनजाने अनुकरण करने में उनमें कोई हिचकिचाहट न थी। स्थूल अभिव्यक्ति में यदि उस समय के धर्म को न थी। स्थूलअभिव्यक्ति में यदि उस समय के धर्म को व्यक्त किया जाय तो हिन्दू और इस्लाम दो ही प्रधान धर्म थे। सिक्खों के देवी देवता प्रायः हिन्दुओं के ही थे पर उनकी आचार पद्धति पर आगे चलकर सैनिक वृत्ति की छाप पड़ी। जैन–धर्म का प्रचार जहां पश्चिम दक्षिण क्षेत्रों में अधिक था। वहां बौद्ध धर्म पूर्वी प्रान्तों में सिमट कर रह गया था। परसी मत 721 ई0 में भारत में अपना पहला कदम रख चुका था। लगभग इसी समय इस्लाम धर्म व्यापारियों के माध्यम से मालाबार पहुंचा था। यहूदी ईसाईयों से पहले ही आ गये थे और ईसाई धर्म फादर टामस द्वारा दक्षिण में प्रेवश पा चुका था।[1]

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101 ।

जिसका प्रचार कार्य परवर्ती काल में प्रारम्भ हुआ। हिन्दू धर्म इस्लाम के सम्पर्क से मात्र व्यवस्थित साधना का केन्द्र न रहकर साधारण साधना का रूपधारण करने लगा था और उसमे आन्दोलन कारी प्रवृत्तियां उभरने लगी थीं। फलस्वरूप प्रायः सभी धर्मों में युगानुरूप परिस्थिति के अनुरूप पन्थों सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों तक सृष्टि होने लगी, जिनका मुख्य उद्देश्य आत्म निरीक्षण और परिस्थिति–परीक्षण द्वारा आवश्यक सुधार करके परम्परागत आचार–विचारों को किसी न किसी रूप में प्रश्रय देकर उन्हें जीवित रखना था। इस प्रयास में वैष्णव धर्म ने भागवत सम्पदाय के रूप में नेतृत्व किया और प्रभाव डाला जिसके माध्यम से भक्ति आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। उसके अनुकरण में अन्य धर्मों ने भी अपनी–अपनी सीमाओं में आवश्यक संशोधन परिवर्द्धन किये। किन्तु धर्म के अन्तर्गत शैव, शाक्त, सौर स्मार्त और गाणपत्य की गणना की जाती थी पंचदेवों वासना के परिणाम स्वरूप इनमें से सौर और गाणपत्य

वैष्णव धर्म के अन्तर्गत हो चले। शेष तीनों में में से शैव और शाक्त धर्म कदाचित् वैष्णव धर्म से अधिक प्राचीन थे।

शैव धर्म के अन्तर्गत मध्यकाल में पाशुपत, वीर शैव, लिंगायत और कश्मीरी शैव सम्प्रदाय विख्यात थे और इनके उप सम्प्रदायों तक का गठन होने लगा था। शिव योग साधना के प्रवर्तक तथा आदि गुरू माने जाते हैं। ऐसे ही उप सम्प्रदायों में नाग योगी सम्प्रदाय की गणना भी की जाती है। इसके उन्नायकों ने अपने प्रचार का माध्यम देशी भाषाओं को बनाया और यह उन्हीं की एकान्त विशेषता न थी। वैष्णव धर्मानुयायी स्वामी रामानन्द और उनके अनुयायियों ने भी लोक प्रचलित भाषाओं का आश्रय लेकर उन्हें प्रश्रय दिया। उसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों ने भी अपने–अपने मतों के प्रचार के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को ही अपनाया। परन्तु इस प्रवृत्ति के मूल में एक ओर जहां भ्रमण संस्कृति की प्रेरणा थी, वहां दूसरी ओर यह जन सम्पर्क का परिणाम भी था।

जहां तक वैष्णव धर्म का प्रश्न है वह भक्ति प्रधान है। जो योग साधना का परवर्ती होने के कारण उससे थोड़ा प्रभावित है।[1]

पांच रात्र मत के माध्यम से तंत्र साधना के तत्व भी किसी न किसी रूप में इसमें समाविष्ट हैं। पांचरात्र मत पर ही मतूर्ति विधान और मन्दिर निर्माण की व्यवस्था मुख्यतः आधारित थी। वैष्णव धर्म–सम्प्रदायों और उप सम्प्रदायों की सृष्टि प्रधानतः इनके आचार्यों अथवा प्रवर्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने के कारण हुई थी। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टद्वैत, भेदाभेद शुद्धाद्वैत आदि इन्हीं के परिणाम थे। इनके द्वारा अपनायी गई भक्ति किसी न किसी दर्शन पर आधारित थी, फलतः ये स्वयं एक–दूसरे को पृथक मानने लगे थे। परन्तु दूसरी ओर ऐसे वैष्णव मतावलम्बी–उप–सम्प्रदायों का भी अस्तित्व था जो किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर उतना बल देना उतना अनिवार्य नहीं समझते थे। रामावत, सहजिया, बारकरी, महानुभाव, पंच सखा आदि ऐसे ही उप–सम्प्रदाय थे।

शाक्त धर्म से भी दक्षिण मार्गी और वान मार्गी नामक दो श्रेणियां बन गयीं। कबीर ने वाममार्गी शाक्तों पर अनास्था प्रकट कर आलोचन की थी। हिन्दू धर्म को सुव्यवस्थित करने के

---

1. द्रष्टव्य : सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101।

लिए शंकराचार्य ने स्मार्त सम्प्रदाय की स्थापना की, जिसमें पंचदेवोपासना की व्यवस्था की गई। आगे चलकर इसमें अन्धविश्वास ने स्थान पा लिया, जिससे भक्ति का मूल रूप धूमिल पड़ गया। पारलौकिक फल की आशा में लौकिक मर्यादाओं के बन्धन कसते गये। तीर्थ और मन्दिर व्यापार–केन्द्र से लगने लगे और पण्डों–पुरोहितों के आचार व्यवहार मर्यादा का उल्लंघन कर उच्छृखलता की कोटि तक पहुंच गये।[1]

इस क्रम में जैन एवं बौद्ध धर्म के स्वरूप का निरूपण मध्यकालीन संस्कृति का महत्वपूर्ण अवयव है। इसे श्रमण धर्म कहा गया है। बौद्ध एवं जैन के लोकधर्मी होने के कारण निर्गुण भक्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। जैनियों की तपोनिष्ठ नैतिक आचार पद्धति और बौद्धों के निर्वाण, शून्यतत्व, मध्यम मार्ग आदि का प्रभाव उन पर पड़े बिना न रह सका। मध्यकाल में उक्त दोनों धर्मों में पुराणपंथी परम्पराओं के प्रति असंतोष बढ़ने लगा। फलस्वरूप ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों के बाढ़ को रोकने के लिए सुधारवादी आन्दोलनों की संख्या बढ़ने लगी। मंत्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान जैसे उप–सम्प्रदायों को इनमें गिना जा सकता है। यही कारण है कि सन्तों ने इन सम्प्रदायों को फटकारा है क्यों इन सम्प्रदायों ने मूल प्रश्न को छोड़कर वाह्रय विधानों का वितण्डा खड़ा कर दिया है। मध्यकालीन आन्दोलन ऐसी बातों के विरोध में जोर पकड़ता जा रहा था, जिसमें सूफी साधकों का महत्वपूर्ण अवदान है।

इस्लाम धर्म में शरा और बेशरा दो प्रकार की कोटियां है। इसमें शरा सनातनी है और बेशरा मस्तमौला फकीर जो कभी–कभी पैगम्बर के चमत्कारपूर्ण करिश्मों का आश्रय लिया करते हैं। ये अपने क्रिया–कलापों में इस्लाम के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा तक कर दिया करते हैं। इनका एक समुदाय 'मजजूब' नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुयायी न तो रोजा–नमाज मानते हैं, न पैगम्बर के प्रति आस्थावान् वेशरा साधक 'मलामाती' कहलाते हैं, जो खुदा के कृपा पात्र समझे जाते हैं। बेशरा सम्प्रदाय के अन्तर्गत मदारी मलंग, कलंदरी, रसूलशाही, लालशाह बाजिया, मूसा सुहागिया आदि कई उप सम्प्रदाय हैं। इनकी अपनी–अपनी विशेषताएं हैं। भारतीय सूफी मुख्यतः

---

[1] नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 102।

वेशरा–सम्प्रदाय के हैं जो इस्लाम के अनुयायी होकर भी सनातन पंथी मुसलमानों से सब समय सर्वत्र मेल नहीं खाते।

ऐसे सम्प्रदायों में पांच मुख्य हैंः चिश्ती, कादिरी, सुहरवर्दी, नक्शबन्दी और सत्तारी। चिश्ती सम्प्रदाय के दो उप सम्प्रदाय हैं साबिरी और निजामी। निजामी की भी दो शाखांए हैं : हिसामी–हाजशाही। इसी प्रकार कादिरी सम्प्रदाय की दो शाखाएं हैं – वहाविया और रजाकिया। इनकी भी प्रशाखाएं हैं – मुकीमशाही और नौसाही। नौसाही के प्रवर्तक हाजी मुहम्मद बतलाये जाते हैं। इनके चार शिष्यों में से दो के नाम पर प्रसिद्ध शाखाएं हैं – पाक रहमानी और सचयारी। इसी प्रकार केशरशाही और वेनवा जैसे दो अन्य सम्प्रदाय भी है। पंजाब के ऐसे ही सम्प्रदायों में हुसैन शाही और मियांखेल नामक सम्प्रदाय है। सुहरवर्दी सम्प्रदाय के अन्तर्गत जलाली मखदूमी, मीरनशाही, दौलाशाही, इस्माईलशाही आदि कई शाखाएं हैं।[1]

नक्शबन्दी सूफियों को सनातनी मुसलमानों को बहुत सम्मान प्राप्त है। औरंगजेब इन्हीं का मुरीद था। इन्हें संगीत, नृत्य के अतिरिक्त पीर–पूजा, समाधि–पूजा और दीपदल जैसी पद्धति स्वीकार्य नहीं है। शत्तारी सम्प्रदाय वाले कादिरों सम्प्रदायों वालों की तरह वस्त्र धारण करते हैं। इनमें कुछ ऐसे भी हैं जो बाल नहीं रखते और धार्मिक पाबन्दियों के प्रति उदासीन रहते हैं। यहां यह विचार करने योग्य है कि सूफी सम्प्रदाय भक्ति–आन्दोलन से पूरी तरह प्रभावित है। उल्लेखनीय है कि – सांस्कृतिक क्रम में यह भी भक्ति–साहित्य का प्रभाव अन्य प्रान्तों के धार्मिक सम्प्रदायों को भी प्रभावित किया है, इनमें प्रमुख नाम इस प्रकार हैं– केरल का शास्ता पूजक सम्प्रदाय, बंगाल के धर्म ठाकुर, सहजिया, बाउल, सत्यपीर, कर्ताभाजा आदि सम्प्रदाय, उड़ीसा का पंचसखा सम्प्रदाय, महाराष्ट्र के वारकरों और महानुभाव सम्प्रदाय है।

संस्कृति का विकास धीरे–धीरे होता है किन्तु उसके विकास के साथ ही साहित्यक विकास भी प्रभावित होता है। साहित्यिक विकास के साथ ही अनेक प्रकार की कलाएं भी सांस्कृतिक विकास का साक्ष्य प्रस्तुत करती है।

---

[1] नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 103।

हिन्दुओं की लयात्मक प्रवृत्ति से भिन्न मुसलमानों की औपचारिकता थी। कालान्तर में सहवास के कारण दोनों में परस्पर वैचारिक आदान–प्रदान हुआ। मतभेदों पर मानवीय भावनाओं की विजय हुई और वास्तुकला भी इससे प्रभावित हुई।

भारतीय राजगीर शताब्दियों से पत्थरों के विशाल देवालय तैयार करने के अभ्यस्त थे, किन्तु मध्यकाल में वे इसके आगे विकास न कर सके। वे भवन निर्माण में कड़ियों से काम लेते थे। भारतीय राजगीरों ने मुस्लिम प्रभाव ग्रहण करके मिहराब बनाया। शिखर का स्थान मीनारों से पृथक था। मुस्लिम आदेशों पर भारतीय राजगीरों द्वारा निर्मित भवन भारतीयता की स्पष्ट छाप है।[1] मुस्लिम वास्तुकला कई रूपों में विकसित हुई है, किन्तु भारतीय वास्तुकला अधिकतर देवालयों और हिन्दू महलों तक सामित रही। इस प्रकार उन दिनों की वास्तुकला दो रूपों में विभक्त थी। धार्मिक और धर्म निरपेक्ष। वास्तुकला के उदाहरणों में दिल्ली की कुतुबमीनार तथा अजमेर का 'अढ़ाई दिन का झोपड़ा'। जिसमें किसी परम्परा का अनुसरण नहीं पाया जाता। मकबरों का निर्माण उस युग की विशेषता है। मुस्लिम वास्तु कला का विकास क्रम तीन रुपों में पाया जाता है।

1. दिल्ली–सल्तनत कालीन 2. सूबेदारी अथवा प्रान्तीय व्यवस्था कालीन

3. मुगल कालीन। तैमूर लंग के आक्रमण से दिल्ली–सल्तनत की वास्तुकला प्रभावित हुई किन्तु मुगल काल इस युग के लिए स्वर्ण युग सिद्ध हुआ।

मूर्तिकला[2] – मध्यकालीन देव मूर्तियां प्रायः परम्परागत थी। भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से इनमें विविधता आयी। इसके परिणाम स्वरूप इसमें क्रमशः करूण, कोमल तथा सरस अभिव्यक्तियों का आविर्भाव हुआ। इसके साथ ही लोकोन्मुखी भावनाओं तथा अनुभूतियों का संस्पर्श इन कलाओं में हुआ। मूर्तिकला का क्षेत्र अधिकतर हिन्दुओं तक सीमित रहा बौद्ध और जैन मूर्तिकला के विकास में प्रचलित रूढ़ियों के कारण अधिक विकास गुंजाइश न थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियां भी मूर्तिकला के विकास में सहायक नहीं हो सकती थीं।

---

1. सं0 डा0 हिन्दी साहित्य का इतिहास पु0 104 ।

ललित कलाएं – भक्ति कालीन आन्दोलन के प्रवाह में कला भक्ति की छाप को दर्शाने लगी। काव्य से भिन्न कला क्षेत्र का सर्वेक्षण चार वर्गों में किया जा सकता है : वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत कला। कला सर्जन के मूल में वाह्रय वातावरण और परिस्थितियों के चेष्टाओं का निदर्शन प्राप्त होता है। इस काल में कला धार्मिक भावना को अभिव्यक्ति करती है। इस काल की कला में संस्कृति मिथ और इतिहास को समवेत रूप में अंकित करती है।

---

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।
2. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।

वास्तुकला – मध्यकालीन वास्तुकला में हिन्दू–मुस्लिम सम्पर्क का एक परिणाम उसके नये मोड़ों में लक्षित होता है। इस्लाम के अभियान में जिन देशों को अधिकृत किया गया था, उनमें भारत की स्थिति भिन्न थी। यहां यथार्थवादी तथा आदर्शवादी मतों का द्वन्द्व था। यदि एक कल्पनाशील था तो दूसरा भौतिकता परायण; और दोनों परस्पर विरोधी लगते थे। इनका प्रभाव इनकी कलाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक था, जिसका प्रमाण इनके देवालयों तथा मस्जिदों में लक्षित होता है। मस्जिदों का खुलापन देवालयों के घिरापन से सर्वथा भिन्न था। देवालयों की भांति मस्जिदों में विग्रह स्थान नहीं रहता, अपितु मक्का की ओर उन्मुख होना ही पर्याप्त समझा जाता है। वास्तुकला की दृष्टि से देवालय की अपेक्षा मस्जिद का स्वरूप सरल एवं बोध गम्य है[1]। देवालय की दीवारों पर दैवी लीलाओं तथा साज सज्जा का अंकन होता है। मस्जिदों में इसके लिए अवकाश नहीं है। वैसे मस्जिदों को भी रंग विरंगों पत्थरों से अलंकृत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार इस क्षेत्र में दोनों के सामंजस्य में पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ा है।

इसके विपरीत वे कहीं–कहीं बाधक ही बने हैं। इस्लाम में मूर्तिपूजा का कोई स्थान एवं महत्व नहीं है। पारसी और यहूदी धर्मों में लीला तत्व का कोई महत्व न होने के कारण कला अधिक विकसित न हो सकी। ईसाई धर्म भारतीय मूर्तिकला में कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं बना सका। विघ्न बाधाओं के बीच भी हिन्दू जनता में मूर्तियों का सम्मान निरन्तर बढ़ता ही गया।

भगवान के लीला विस्तार के साथ–साथ मूर्तियों की परिकल्पनाएं तथा भंगिमाए भी रूपाचित होने लगी।

चित्रकला[1] – चित्र के प्रारम्भिक नमूने गुफाओं में मिलते हैं, जिनसे पुराकालीन भारतीय चित्रकारों की निरीक्षण प्रतिभा और कला कौशल का आभास मिलने लगता है। भारतीय चित्रकला में दर्शन और अनुभूति दोनों का स्थान एवं महत्व है, चित्रकला के तीन पक्ष हैं : चित्र, अर्द्धचित्र, चित्राभास इस कला में षडंगं की महत्ता है : रूप विधान रूपभेद, प्रमाण, भाव योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग। इस विषय का प्राचीन ग्रंथ 'विष्णु धमोत्तर' है। 'विद्धशाल भंजिका' नाटक में भी पूरे मानवीय चित्र का उल्लेख मिलता है, जहां सशक्त रेखाचित्र का उदाहरण उपलब्ध है। प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त नमूने भी उपलब्ध हैं जो दो प्रकार के हैं : विद्ध और अविद्ध। ऐसे चित्रों में 'बुद्ध का परिनिर्वाण' प्रमुख है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भी भित्ति–चित्र की चर्चा है। परवर्ती, विशेषतः मध्यकालीन, चित्रों में विभिन्न रसों की अभिव्यक्ति मिली है – न केवल मानवीय चित्रों में अपितु प्राकृतिक चित्रों में भी। प्राकृतिक चित्रों की एक अन्य विशेषता बारहमासा रागमाला आदि के लेखांकन में पायी जाती है। मानवीय चेष्टाओं द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। नायक–नायिकाओं का चित्रांकन मध्यकालीन चित्रों की एक प्रमुख विशेषता हे। राजस्थानी शैली मध्यकाल में लोकप्रिय रही, जिसका ईरानी चित्र कला के मेल–जोल से मुगल शैली में विकास हुआ। यह शैली बहुत सफल तथा लोकप्रिय सिद्ध हुई। हुमायूं के साथ ईरान के दो चित्रकार मीर सैयद अली और अब्दुस्समद युद्ध क्षेत्र की वीरता, दरबारी जीवन के दृश्य जल विहार, वाटिका मनोरंजन और धार्मिक जीवन के विविध प्रसंग मध्यकालीन चित्रों की मुख्य विशेषताएं हैं। इनमें रंग रूप और रेखाओं के सुन्दर विन्यास मिलते हैं। इसके साथ ही ग्रन्थों के अलंकरण और सजावट वह परम्परा भी चलती रही, जो अपभ्रंश काल से चल पड़ी थी। इनमें सन्दर्भगत विवरणों के चित्र भी पाये जाते हैं। परन्तु मध्यकालीन चित्रकला जितनी राजघरानों और अमीरों की विषय रही है, उतनी जन–सामान्य की नहीं। अधिकतर राजाश्रित पेशेवर कलाकार ही इसके

---

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 104।

संवर्द्धक रहे। केन्द्रीय राजसत्ता के विखराव के बाद छोटे–मोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था, जिसका प्रभाव कला के क्षेत्र पर भी पड़ा और राजाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्र शैली की पृथक–पृथक 'कलपें' चल पड़ीं। इनके बीच लोक–कला भी पलती रही जो वनोत्सवों अथवा मांगलिक कार्यों के अवसरों पर अभिव्यक्ति पाती रही हैं।

संगीत कला : मध्यकालीन भारतीय संगीत का इतिहास अधिकतर संगीत घरानों का इतिहास है। इस काल में भारतीय संगीत ईरानी संगीत के मेलजोल से एक नया मोड़ आया। देवालयीय संगीत की एक धारा दरबारों में पलकर शास्त्रीयता का रूप ले रही थी और इसकी एक अन्य धारा बढ़ते हुए लोक प्रभाव के कारण लोक संगीत से कन्धा मिला रही थी।[1] ईरानी प्रभाव से ध्रुव पद के मुकाबले में ख्याल पद्धति का प्रचलन हुआ। इस काल में नये–नये वाद्यों के आविष्कार हुए। राज्याश्रय पाकर पृथक–पृथक राज्यों में नये–नये उस्तादों के घराने चल पड़े। उत्तर और दक्षिण के संगीत का भेद जितना घरानों और पद्धतियों का भेद है, उतना भारतीय संगीत का नहीं[1]। भारतीय संगीत की मूल प्रेरणा योग धर्मी स्वर साधना की है, परन्तु इस्लाम में इसे रागात्मक वृत्तियों से गर्भित माना जाता है जिस कारण खुदा के 'जिक्र' और उसकी 'इबादत' में बाधा उपस्थित होने की आशंका बनी रहती है फिर भी सूफियों यहां संगीत प्रायः में भी सहायता मिली। सूफियों में कौव्वालियां प्रसिद्ध रही हैं।

गायन पद्धति की भांति नृत्य पद्धति भी विस्तार पाती रही देवालयीय पद्धति क्षीण होने लगी तथा दरबारी पद्धतियों का सहारा पाने लगी। देवालयीय पद्धति के संगीतों में स्वामी हरिदास अग्रगण्य थे और दरबारी संगीत के प्रमुख उन्नायक उनके शिष्य तानसेन थे। ध्रुवपद शैली को ग्वालियर के राजा मानसिंह ने दरबारी संस्कार, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। इस सन्दर्भ में बैजू वावरा और गोपाल नायक को नहीं भुलाया जा सकता ये इस युग के मूर्धन्य संगीतज्ञ थे।

अन्य क्षेत्रों की भांति मध्यकालीन कला क्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति काम कर रही थी। इससे भारतीय कला में एक नया मोड़ आ गया, जिससे इसमें समृद्धि और सम्पन्नता बढ़ती गयी। संगीत के प्रभाव से काव्य–रचनाएं भी राग और रागिनियों के भेदों का अनुसरण करने लगीं। 'आदि ग्रन्थ' जैसे धार्मिक ग्रन्थ भी प्रचलित राग–रागनियों के शीर्षकों से युक्त हो गये। यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें राग–रागनियों का विभाजन किया गया है।

इस प्रकार मध्यकालीन संस्कृति विभिन्न रूपों में मानव कलाओं में स्थान पाती रही हैं। यह संस्कृति विपुला एवं विराट है। काव्य शास्त्रीय एवं दार्शनिक परम्परायें संस्कृति के प्रसिद्ध

---

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 105।

अंग है। यद्यपि काव्य सीधे इनका प्रतिपादन प्रायः न ही करते किन्तु भक्ति–भावित धारायें इससे अछूती नहीं हैं।

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 105।

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, परम्परा और काव्य

मध्यकालीन भारतीय संस्कृति भक्ति भावित है। संस्कृति का स्वरूप काव्य में विशेष विचारधारा के रूप में आता है। इस काल की प्रमुख विशेषता यह रही है, इस काल में वैष्णव भक्ति का उदय हुआ, वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास का यदि अनुसंधान किया जाय तो उसका बीज वैदिक धर्म में मिलेगा। वैदिक विष्णु देवता को यदि सगुण अवतारी देवता माना जाये तो इसका क्रमिक विकास सहज स्थिति हो जाता है, किन्तु वैदिक विष्णु और भागवत धर्म के स्वीकृत विष्णु देवता में भेद माना जाता है। भागवत धर्म का उदय ईसा से चार–पांच शती पूर्व हो गया था। गुप्त काल में विष्णु के अवतारों की पूजा अर्चना होती थी। इस समय के अभिलेखों में विष्णु के वासुदेव नारायण आदि का उल्लेख इन नामों को प्रमाणित करता है। विष्णु सम्प्रदायों में भागवत–सम्प्रदाय के बाद सात्वत धर्म माना जाता है। वासुदेव को सही इसका प्रवर्तक भी स्वीकार किया जाता है। भागवत और सात्वत शब्द पर्याय के रूप में भी उपलब्ध होते हैं। सात्वत धर्म के बाद पांचरात्र धर्म का स्थान आता है। पांच रात्र में रात्र शब्द का अर्थ ज्ञान हे। पंच विध ज्ञान वचन को पंच रात्र कहते हैं। परमतत्व, भुक्ति, मुक्ति, योग तथा विषय (संसार) इन पांच विषयों के समवेत ग्रहण को पांच रात्र धर्म कहते हैं। शंकराचार्य आदि विद्वानों ने भी पांच रात्र धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसके सम्बन्धों में अपने विचार व्यक्त किये[1] हैं। इन साम्प्रदायिक मतों के साथ वैष्णव भक्ति मार्ग का वर्णन हमें महाभारत गीता और पुराण ग्रंथों में मिलता है। महाभारत के अनेक प्रकरण वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गीता महाभारत का एक अंश ही है किन्तु भक्ति के क्षेत्र में उसका स्वतंत्र स्थान बन गया है। साम्प्रदायिक भक्ति–मार्गों के पूर्व गीता और पुराण–संहिता को ही कृष्ण भक्ति का आधार समझा जाता था। गीता में भक्ति का निरूपण प्रत्यक्ष रूप में हुआ है। ऐकान्तिक कृष्ण भक्ति का जैसा

स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता में है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ0 वरूआ ने गीता को 'विश्वास तत्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति ग्रन्थ[1] स्वीकार किया है। वैष्णव भक्ति के स्वरूप स्पष्ट और स्वच्छ रूप में उद्‌घाटित करने में मुनिवर, शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्ति सूत्रों का प्रमुख स्थान है। भक्ति क्षेत्र में शाण्डिल्य ने जब भक्ति सूत्रों का निर्माण किया तब भक्ति का व्याख्यात्मक स्तर पर प्रतिपादन हो चुका था। महाभारत, गीता, पुराण आदि इसके प्रमाण हैं। शाण्डिल्य ने सबसे मौलिक बात यह बतायी कि भक्ति पक्ष सभी भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर व्यक्ति भी भक्ति मार्ग का अनुसरण कर भगवान की भक्ति कर सकता है। शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका है। परा और अपरा भक्ति के दो रूप हैं।

नारद ने अपने भक्ति सूत्र में भक्ति की उत्कृष्टता बड़े आग्रह के साथ स्थापित की है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्ति से नारद की भक्ति में बहुत कुछ साम्य है। नारद भक्ति को ईश्वरीय प्रेम की संज्ञा देता हैं। भक्त न चिन्ता करता है न द्वेष करता है, किसी वस्तु में आसक्त होता है। इस प्रेमरूपा भक्ति को पाकर भक्त सिद्ध हो जाता है। संक्षेप में भक्ति सूत्रों ने वैष्णवी–भक्ति भावना को शास्त्रीय धरातल दिया।

आचार्य शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि 15वीं और 16वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म को जो आन्दोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके प्रधान प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य थे।[2]

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि रामानुज से लेकर जितने भक्त दार्शनिक आचार्य हुए हैं सबका लक्ष्य शंकराचार्य के मायावाद और निवर्तवाद से पीछा छुड़ाना था जिसके अनुसार भक्ति अविद्या या भ्रांति ठहरती है। शंकर ने कवेल निरूपाधि निर्गुण ब्रह्म को ही परमार्थिक सत्ता स्वीकार की थी। बल्लभ ने ब्रह्म में सब धर्म माने। सारी सृष्टि को उन्होंने लीला के लिए की आत्मकृति कहा। अपने को अंश रूप जीवनों में विखरना ब्रह्म भी लीला मात्र है। अक्षर ब्रह्म अपनी आविर्भाव तिरोभाव की अचिन्त्य शक्ति से जगत के रूप में परिणत भी

---

1. सं. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 175।

1- The Bhatcti Doctrine in Shandilya Sutra, B.M. Barua, Page 437.
2- आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 103 ।

होता है और उसको परे भी रहता है। वह अपने सत चित् और आनन्द, इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जीव में सत् और चित का आविर्भाव रहता है पर आनन्द का तिरोभाव। जड़ में केवल सत् का आविर्भाव रहता है, चित् और आनन्द दोनों का तिरोभाव। माया कोई वस्तु नहीं।

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं जो दिव्य गुणों से सम्पन्न होकर पुरूषोत्तम कहलाते हैं। आनंद का पूर्ण आविर्भाव इसी पुरूषोत्तम रूप में रहता है, अतः यही श्रेष्ठ रूप है। पुरूषोत्तम कृष्ण की सब लीलाएं नित्य हैं। वे अपने भक्तों के लिए 'व्यापी बैंकुंठ में (जो विष्णु के बैकुंठ से ऊपर है) अनेक प्रकार की क्रीडाएं करते रहते हैं। गोलोक इसी व्यापी बैकुंठ का एक खण्ड है, जिसमें नित्य रूप में यमुना, वृंदावन, निकुंज इत्यादि सब कुछ है। भगवान् की इस 'नित्य लीला सृष्टि' में प्रवेश करना ही जीव की सबसे उत्तम गति है।[2]

शंकर ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक या असली रूप कहा था और सगुण को व्यावहारिक या मायिक।

बल्लभाचार्य ने बात उलट कर सगुण रूप को ही असली पारमार्थिक रूप बताया और निर्गुण को उसकी तिरोहित रूप कहा। भक्ति की साधना के लिए वल्लभ ने उसके 'श्रद्धा' के अवयव को छोड़कर जो महत्व की भावना में मग्न करता है, केवल प्रेम लिया। प्रेम लक्षण भक्ति ही उन्होंने ग्रहण की। 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में सूरदास की एक वार्ता के अवर्गत प्रेम को ही मुख्य और श्रद्धा या पूज्य बुद्धि को ही आपनुषंगिक या सहायक कहा है –

'श्री आचार्य जी, महाप्रभु के मार्ग को कहा स्वरूप है ? महात्म्य ज्ञानपूर्वक सुदृढ़ स्नेह तो पराकाष्ठा है।

---

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 103।
2. तत्रैव, पृष्ठ 103।

सांस्कृतिक परिवेश से दर्शन एवं साहित्य दोनों का विकास होता है। वैष्णव धर्म के विकास क्रम में वल्लभाचार्य की जो चर्चा की गई है उसके परिप्रेक्ष्य में वल्लभाचार्य के वेदान्त दर्शन पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि यह विचारधारा कृष्ण भक्ति परम्परा की महत्वपूर्ण एवं मुख्य धारा है।

वल्लभ सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत या पुष्टि मार्ग कहलाता है। शुद्धाद्वैत का विग्रह षष्ठी तत्पुरूष और कर्मधारय दोनों प्रकार के समासों से किया जा सकता है। षष्ठी तत्पुरूष समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है – शुद्धयोः अद्वैतम् अर्थात शुद्ध जगत और जीव का ब्रह्म से अद्वैत, जगत और जीव शुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं और ब्रह्म से अभिन्न हैं। कर्मधारय समास के अनुसार शुद्धाद्वैत का अर्थ है – शुद्ध च तत् अद्वैतम् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म ही अद्वैत तत्व है; शुद्ध का अर्थ है माया सम्बन्ध[1] रहित और अद्वैत का अर्थ है सजातीय–विजातीय–स्वगत द्वेत वर्जित[2]।

शांकर वेदान्त द्वारा अभिमत भ्रान्तिरूपा सद सदनिर्वचनीया माया ब्रह्म का स्पर्श भी नहीं कर सकती। इस प्रकार की कल्पित माया से ब्रह्म के सजातीय जीव, विजातीय जड़ पदार्थ और स्वगत् अन्तर्यामी वस्तुतः ब्रह्म रूप ही है, अतः ब्रह्म इस त्रिविध भेद या द्वैत से रहित अद्वैत तत्व ही है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम सार्थक है। इसी नाम पुष्टि मार्ग भी है। पुष्टि का अर्थ है भगवान का अनुग्रह। श्रीमद् भागवत में पोषण या पुष्टि का भगवद् अनुग्रह बताते हुए इसे ही भगवत् प्राप्ति का एक मात्र कारण माना गया[3] है। वल्लभाचार्य ने भागवत् के इस रहस्य को अपने पुष्टिमार्ग में सम्पुष्ट किया है। पुष्टिमार्ग, ज्ञान, कर्म, आदि से निरपेक्ष है। यहां भगवद्नुग्रह से ही सिद्धि होती है, यत्न तो विघ्न उत्पन्न करते हैं।

बल्लभ मत में ब्रह्म ही एकमात्र अद्वैत तत्व है। ब्रह्म सर्वधर्म विशिष्ट है एवं धर्माश्रय भी है। ब्रह्म में विरूद्ध धर्मों की स्थिति स्वाभाविक है, मायिक नहीं। ब्रह्म कार्य और कारण दोनों रूपों में शुद्ध है। भगवान श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है[3]।

---

1. डॉ0 चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 321।
2. वही, पृष्ठ 321–321।
3. वही, पृष्ठ 321–321।

भगवान की शक्ति और महिमा अनन्त है। वे एक भी है, अनेक भी हैं। निर्विशेष निर्गुण भी हैं और सविशेष सगुण भी है। वे परम स्वतंत्र हैं और भक्ताधीन भी हैं। वे सच्चिदानन्द हैं। वे अणु से अणु और महान से महान हैं। वे अपने सत्, चित, और आनन्द स्वरूप का अपनी इच्छारूपी शक्ति से विविध अंशों में आविर्भाव और विरोभाव करते हुए जड़ जगत्, चेतन जीवनों और अन्तर्यामी नियामकों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया कल्पित नहीं। यह जत् और जीव ब्रह्मरूप होने से सत्य और नित्य हैं। माया ब्रह्म की वास्तविक अघटित–घटना पटीयसी शक्ति है जो उन्हीं में स्थिति रहती है। अविद्या इस माया का भ्रान्तिजनक पक्ष है। इससे जीवों में ज्ञान का तिरोभाव और अज्ञान का आविर्भाव होता है।

ब्रह्म त्रिरूप है। आधि दैविक परबह्म, आध्यात्मिक अक्षर ब्रह्म और आधिभौतिक जगत्। गीता में जगत् या प्रकृति को क्षर पुरूष तथा आत्मा को अक्षर पुरुष एवं पर ब्रह्म को क्षर से अतीत और अक्षर से उत्तम होने के कारण पुरूषोत्तम कहा गया[1] है। अक्षर ब्रह्म विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान मार्ग द्वारा इसी की प्राप्ति सम्भव है। पुरूषोत्तम परब्रह्म अखण्डानन्द परिपूर्ण है और उसकी प्राप्ति अनन्य भक्ति से पुष्टि मार्ग द्वारा होती है।

सच्चिदानन्द भगवान को जब रमण करने की इच्छा होती है, एक से अनेक रूपों में अभिव्यक्ति की इच्छा होती है, तब स्वयं जगत, जीव और अन्तर्यामी रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। इसमें भगवान की इच्छा क्रीड़ा या लीला ही एक मात्र हेतु है। यह अभिव्यक्ति वास्तविक है, माया कल्पित नहीं है। यह विवर्त नहीं है, यह विकार युक्त परिवर्तन भी नहीं है।

ज्ञानमार्गीय बिशुद्ध ज्ञान स्वरूप अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करते हैं, किन्तु आनन्द स्वरूप पुरूषोत्तम की प्राप्ति तो पुष्टिमार्गीय भक्तों को होती है। यह स्वीकृत तथ्य है कि ब्रह्म के सदंश से जीव की बन्धन सामाग्री के रूप में जड़

[1] **भगवद्गीता, 8, 21–22 एवं 15, 16–18**

जगत् का तथा चिदंश से बन्धनीय चेतन जीवनों का निगर्मन होता है। ब्रह्म के अविकृत आनन्दांश से अन्तर्यामी निर्गमित होते हैं, जिनमें सत्, चित्त और आनन्द तीनों का आविर्भाव रहता है। ये अन्तर्यामी जीवों में उनके नियामक बन कर रहते हैं। प्रत्येक जीवन का एक नियामक अन्तर्यामी होता है। अतः अन्तर्यामी भी संख्या में उतने ही हैं जितने जीव होते हैं ये अन्तर्यामी सच्चिदानन्द होने से ये वस्तुतः ब्रह्म स्वरूप है, किन्तु जीवनों के नियामक बनकर उनकी सहायता करने के कारण इन्हें जीवनों के सामने असंख्य माना गया है। ब्रह्म इन अन्तर्यामी का भी अन्तर्यामी है। ब्रह्म अपने विजातीय जड़ जगत्, सजातीय जीवन और स्वगत अन्तर्यामी इन तीनों रूपों अनुस्थूत है, अतः वह इन तीनों का अन्तर्यामी है। और वह अपने परात् पर रूप में पुरूषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण है।

वल्लभ–दर्शन में जगत प्रपंच में और संसार में एक विलक्षण भेद स्वीकार किया गया है। यह जगत्–या प्रपंच सच्चिदानन्द भगवान की इच्छा से उनके संदृश से आर्विभूत होने के कारण ब्रह्म रूप होने से सत्य तथा नित्य है। नित्य होने से उत्पत्ति विनाश रहित है। जगत् के विपरीत संसार या जीव का जन्म मरण चक्र अविद्या कल्पित है। यह अविद्या पंचपवी (पांच प्रकार की हैं) 1. जीव का स्वरूप ज्ञान 2. देहाध्यास 3. इन्द्रियांध्यास 4. प्राणाध्यास और अन्तः करणाध्यास जब तक अविद्या है तब तक संसार है। ज्ञान के उदय होने पर अविद्या निवृत्ति के साथ संसार की भी निवृत्ति हो जाती है। किन्तु ब्रह्म स्वरूप होने के कारण जगत् या प्रपंच का कभी नाश नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्म के समान नित्य है।

वल्लभ मत में इसे 'अविकृत परिणाम' कहा जाता है। भगवान ही अविकृत भाव से जगदादि रूप ग्रहण करते हैं, जिस प्रकार कटक–कुण्डलादि सुवर्ण के अविकृत परिणाम हैं क्योंकि कटक–कुण्डलादि रूपों में परिणत होने पर भी सुवर्ण में परिणत किया जा सकता है, उसी प्रकार अविकृत भाव से जगदादि रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी ब्रह्म में कोई विकार नहीं होता।

1. भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 324।

कार्य ब्रह्म और कारणब्रह्म दोनों शुद्धब्रह्म रूप होने से एक ही है। जगत् और जीव सत्य और नित्य है। अतः उत्पत्ति–विनाश रहित है। उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव और विनाश का तिरोभाव है। बल्लभ–मत में आविर्भाव का अर्थ 'अनुभव योग्य होना' है। जिस प्रकार अग्नि से स्फलिंग के निकलने को व्यच्चुरण विकिरण या निगर्मन कहते हैं यह निगर्मन उत्पत्ति नहीं है और न स्फलिंग का पुनः अग्नि–प्रवेश उसका विनाश है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जगत या जीवन की नित्यता अक्षुण्ण रहती है। सच्चिदानन्द भगवान के अविकृत सदंश से जड़ जगत् का निगर्मन होता है, इसमें सदंश का आर्विभाव और चिदंश तथा आनन्दांश का तिरोभाव रहता है। जीव अणुरूप हो जाता है और ज्ञानाश्रय भी है। जीव में ऐश्वर्य के तिरोभाव से दैन्य, यश के तिरोभाव से हीनत्य। श्री के विरोभाव से अपकर्ष, ज्ञान के तिरोभाव से देह, आत्मबुद्धि और आनन्द के तिरोभाव से दुःख उत्पन्न होता है। जीव अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें संसारी शुद्ध मुक्त भेद मुख्य है। अविद्या युक्त जीव संसारी है। ये दो प्रकार के हैं, दैव और असुर; दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भक्तों के होते हैं। अविद्या रहित जीवन शुद्ध होते हैं। जब भगवद् अनुग्रह से जीव में तिरोहित आनन्दांश आविर्भाव होता है। तब वह मुक्त होकर भगवान के आनन्द का अनुभव करता है।

पुष्टिमार्ग में भक्ति ईश्वर के अनन्य प्रेम द्वारा उनके प्रति आत्म समर्पण है। इसमें ईश्वर के अनुग्रह के अतिरिक्त अन्य कोई यत्न या साधन नहीं है। भक्ति का स्थायी भाव प्रेम है। भगवान के महात्म्य के ज्ञान सहित उनके प्रति सुदृढ़ सवांतिशार्या प्रेम ही भक्ति कहलाता है और केवल उसी से मुक्ति सम्भव है, अन्यथा नहीं। प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण की सेवा भक्ति है। जब चित्त समाधि के समानभगवान में लीन होकर एक रस हो जाय वह भगवदाकार चित्त सेवा रूप है। वास्तव में रसरूप भगवान की रसमय सेवा ही भक्ति का चरमोत्कर्ष है। वस्तुतः श्रीकृष्ण प्रेम की अनाविल धारा कृष्ण भक्ति धारा में प्रवाहित हुई।

---

1. डॉ0 चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशीलन, पृष्ठ 323।

इस प्रकार हम पाते हैं कि कृष्ण भक्ति की प्रेम धारा का प्रधान रूप ही देदीप्यमान रहा है। इस धारा का प्रवाह विद्यापति, जयदेव के साथ कृष्ण भक्ति धारा के अष्टछाप के कवियों के काव्य में विद्यमान रहा है। इसी परम्परा के अन्तर्गत मीरा और रसखान भी है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है – कृष्ण चरित्र के गान में गीत काव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई, उसी का अवलम्बन ब्रज के भक्त कवियों ने भी किया। आगे चलकर अलंकार काल के कवियों ने अपनी श्रृंगारमयी मुक्तक कविता के लिए राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया।[1]

विद्यापति मिथिला निवासी थे – जयदेव (उड़ीसा) और चण्डीदास (बंगाल) की परम्परा में उन्होंने चौदहवीं–पन्द्रहवीं शताब्दी में राधा–कृष्ण प्रेम की जैसी सरस कोमल अवतारणा की, उसी का परिणाम है कि मूलतः शैव होने पर उन्हें कृष्ण भक्तों की पंक्ति में स्थान दिया जाता है।

उनके द्वारा रचित 'पदावली' की 'सरसता' को लक्षित कर लोक–हृदय और पण्डित समाज ने उन्हें अभिनव जयदेव, मैथिल कोकिल, नवक विशेषर आदि उपाधियों से विभूषित किया। विद्यापति को विहार और बंगाल में ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी क्षेत्र में असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई। विद्यापति का जन्म जिला दरभंगा (विहार) के विसयी ग्राम में एक विद्यानुरागी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता गणपति ठाकुर संस्कृत के उच्च्च कोटि के विद्वान और राजाश्रित कवि थे। फलस्वरूप विद्याध्ययन और लेखन के संस्कार उन्हें कुल परम्परा से प्राप्त हुए। पिता की भांति विद्यापति ने भी राजाश्रय में काव्य–रचना की तिरहुत के दरबार में उन्हें अपार सम्मान प्राप्त हुआ। उनके द्वारा उचित कृतियों की भाषा के आधार पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। उन्होंने एक ओर 'शैव सर्वस्वसार' 'गंगावाक्यावली' 'भूपरिक्रमा' पुरूष परीक्षा आदि संस्कृत ग्रंथों की रचना की; दूसरी ओर अवहट्ठ में रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में क्रमशः राजा कीर्ति सिंह और शिवसिंह की वीरता, उनके द्वारा किये गये युद्धों और उदारता का वर्णन किया और तीसरी ओर मैथिली में 'पदावली' का गान किया। विद्यापति के पदलोकंठ में सुरक्षित

---

[1] **आ0 रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 109**

रहे, फलस्वरूप इनके भाषा–रूप में गायक की सुविधानुसार यत्किंचित परिवर्तित होते रहे। यही कारण है कि मैथिली हिन्दी में रचित होने पर भी 'पदावली' में बंगला–प्रभाव विद्यमान है और वंगला साहित्य में भी उसे उतना ही सत्कार प्राप्त है।

जिन पदों में राधाकृष्ण को नायक–नायिका के रूप में ग्रहण कर श्रृंगार वर्णन किया गया है उनमें भी भावुक जन भक्ति की अन्तः सलिला का प्रवाह पाते हैं जनश्रुति है कि महाप्रभु चैतन्य इन पदों को गाते–गाते भाव विभोर होकर मूर्च्छित हो जाया करते थे।

वस्तु तथ्य यह है कि 'पदावली' के पदों में रूप, अभिसार और मिलन का बहुरंगी चित्रण है। कवि ने राधाकृष्ण का नाम्ना उल्लेख अवश्य किया है किन्तु उनकी क्रियायें सामान्य ऐन्द्रिय आसक्ति से युक्त है। कवि ने उनके मांसल सौन्दर्य के साथ ही नायक–नायिका के प्रति प्रेम वासना में निमग्न दिखाया है। पदावली में नखशिख सौन्दर्य, मिलन की आकांक्षा, काम के लिए और पूर्व घटित प्रेम–लीलाओं की वियोग काल में स्मृति 'पदावली' के मुख्य वर्ण्य विषय है किन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि श्रृंगारिक पृष्ठभूमि में भक्ति का विकास भी होता है।

'पदावली' में भाव–वर्णन अत्यधिक मार्मिक, प्रौढ़ तथा सशक्त है। संयोर श्रृंगार के मादक चित्र, चाहे वियोग–व्यथा का मार्मिक वर्णन–हृदय की तरलता और गहराई का सम्मिश्रण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान है। तत्वतः विद्यापति के प्रेम वर्णन में न तो मनोवैज्ञानिकता का अभाव है न उसमें सामाजिक अस्वस्थता है सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और प्रेमानुभूति मानव मन की ऐसी सहज वृत्तियां हैं। ये सहज वृत्तियां परिष्कृत होकर आध्यात्मिक बनती हैं। मनोविज्ञान में इसे उदात्तीकरण (**Sublimation**) कहा गया है।

डॉ0 रामकुमार वर्मा 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' जिसमें एक ओर आराधना तथा दूसरी ओर वासना दिखाई देती है। किन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि विद्यापति भक्त कवि भी हैं प्रस्तुत है प्रस्तुत पद[1]

मोर पिया सखि गेल दुरि देश, जौवन दए भेल साल सनेस।

---

1. डा0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 197।

मास असाढ़ उनत नव मेघ। पिया विसलेख रहओं निरथेघ।।
कौन पुरूष सखि कौन से देश। करब मोय तहां जोगिन भेस।।

प्रस्तुत पद में वियोग के प्रेम को भलीभांति समझा जा सकता है।

विद्यापति की पदावली संगीत के स्वरों में गूंजती हुई राधाकृष्ण के चरणों पर समर्पित की गई है। उन्होंने प्रेम के साम्राज्य में अपने हृदय के सभी विचारों को अन्तर्हित कर दिया है। उन्होंने श्रृंगार रस पर ऐसी लेखनी उठाई जिससे राधाकृष्ण के जीवन का तत्व प्रेम के सिवाय कुछ भी नहीं रह गया है। विद्यापति की कविता गीतिकाव्य के स्वरों में है। गीतिकाव्य का यह लक्षण है कि उसमें व्यक्तिगत विचार, भावोन्माद, आशा–निराशा की धारा अबाध रूप से बहती है। कवि के अन्तर्जगत के सभी विचार, व्यापार और उसके सूक्ष्म हृदयोद्‌गार उस काव्य में संगीत के साथ व्यक्त रहते हैं। विद्यापति के कविता में श्रृंगार का प्रस्फुटन स्पष्ट रूप से मिलता है, भाव आलम्बन विभाग, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का दिग्दर्शन उनके पदावली में सुन्दर रीति से मिल सकता है। उनके सामने विश्व के श्रृंगार में राधा और कृष्ण की मूर्तिया हैं। स्थायी भाव 'रति' तो पदावली में आदि से अन्त तक है ही। आलम्बन विभाव में नायक कृष्ण और नायिका राधिका का मनोहर चित्र खिंचा गया है। डॉ0 राम कुमार वर्मा के विचार इस विषय में उल्लेखनीय हैं – विद्यापति के भक्त हृदय का रूप उनकी वासनामयी कल्पना के आवरण में छिप जाता है। वे एक कल्पित राज्य में विहार करते हैं। वे अपनी कल्पना के सौन्दर्य में ऐसे डूब गये हैं कि किसी दूसरी ओर उनकी दृष्टि भी नहीं जाती। विद्यापति की राधा प्रेम करती है, इसलिए कि वह स्त्री है और स्त्रियां प्रेम करना जानती हैं। राधा प्रेम करती हैं, इसलिए कि कृष्ण सुन्दर हैं और सुन्दरता से प्रेम होना स्वाभाविक है।

---

1. डॉ0 रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 489।

जहां तक मांसल प्रेम के चित्रण का वर्णन है केवल उसे ही आधार बनाकर भक्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता। डॉ0 शिव प्रसाद सिंह विद्यापति में लिखा है कि भक्ति का रूमेष श्रृंगारिक भूमि में होता है। संभवतः शिव प्रसाद का कथन सत्य के अधिक निकट है।

सूर के प्रसंग में विवेचन करते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं –

कवि विद्यापति की पदावली हमें जो उनका रूप मिलता है सूर के श्रृंगारी पदों की रचना बहुत कुछ विद्यापति की पद्धति पर हुई है। कुछ पदों के भाव एक जैसे हैं।[1]

अनखुन माधव माधव सुमिरइत सुन्दर भेलि मधाई
और निज भाव सुभावहि विसरल अपने गुण लुबधाई।।
मोरहि सहचरि कातर ढिठि हेरि छल–छल लोचन पानि
अनुखन राधा राधा रटइत आधा आधा बानि।।
राधा सयं जब पनि तहि माधव माधव सयं जब राधा।
दारून प्रेम तबहिं नहिं टूटत बाढ़त बिरह क बाधा,
दुहू हिसि दारू दहन जइसे दगधइ आकुल कीट परान।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखि कवि विद्यापति भान।।

इस पद का भावार्थ यह है कि प्रतिक्षण कृष्ण का स्मरण करते–करते राधा कृष्ण रूप हो जाती है और अपने को कृष्ण समझकर राधा के वियोग में 'राधा राधा' रटने लगती है फिर जब होश में आती हैं तब कृष्ण के विरह में संतप्त होकर फिर कृष्ण–कृष्ण करने लगती हैं। इस प्रकार अपनी सुध में रहती हैं, तब भी, नहीं रहती हैं, तब भी विरह अवस्थाओं में उन्हें विरह का ताप सहना पड़ता हे। उनकी दशा उस लकड़ी के भीतर के कीड़े सी रहती है, जिसके दोनों छोरों पर आग लगी हो।

---

1. डा0 राजकुमार वर्माः हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास– पृष्ठ 490 ।
2. आ0 रामाचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास–पृष्ठ 110

सूर का निम्नलिखित पद भी इसी भाव का है –

सुनौ स्याम ! यह बात और कोउ क्यों समझाय कहै।
दुहुं दिसि की रति बिरह बिरहिनी कैसे कै जो सहै।
जब राधे, तब ही मुख 'माधौ माधौ' रटति रहै।
जब माधव हैव जाति सकल तनु राधा बिरह दहै।
उभय अग्र इव दारू कीट ज्यों सीतलाताहि चहै।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुखन लहै।।[1]

कृष्ण भक्ति परम्परा में विद्यापति का उल्लेख किया जा चुका है। यहां 'मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदायों में कृष्ण' का परिचय देना आवश्यक है।

मध्य युग में कृष्ण भक्ति का प्रचार ब्रज मंडल में बड़े उत्साह और भावना के साथ हुआ। इस संदर्भ में वल्लभ निम्बार्क, राधा वल्लभ, हरिदासी और चैतन्य सम्प्रदाय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द–स्वरूप पूर्ण पुरूषोत्तम परब्रह्म है। वे सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है। वे व्यापक, नाशरहित, सर्वशक्तिमान, स्वतंत्र, सर्वज्ञ, स्वजातीय विजातीय–भेद–रहित है और उनके अनन्त रूप हैं। इस जगत में वही निमित्त कारण हैं और वे सम्पूर्ण विरूद्ध धर्मों के आश्रय हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी आनन्द–प्रदायिनी शक्तियों को अपने में प्रसारित करके अनेक अप्राकृतिक लीलाएं किया करते हैं, उन्हीं के समान उनकी लीलाएं भी नित्य हैं। उनकी लीलाओं का कोई प्रयोजन नहीं है–स्वयं लीला ही उनका प्रयोजन है। निम्बार्क सम्प्रदाय में कृष्ण के वामांग में सुशोभित राधा के साथ कृष्ण की उपासना का विधान है। समस्त वस्तुओं के मूल स्रोत कृष्ण ब्रह्म ही हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए कृष्ण अवतार धारण करते हैं। ब्रह्म और शिव भी कृष्ण की वन्दना करते हैं। उनके चरणारविंद को छोड़कर

---

[1] **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल,: हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ– 110**

जीवों के लिए अन्य गति नहीं है। दैन्य भाव से उनकी कृपा प्राप्त होती है और फिर प्रेम मूला भक्ति द्वारा जीव का कल्याण होता है। राधा वल्लभ–सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान नहीं है, राधा ही प्रमुख है। श्रीकृष्ण आनुवंशिक रूप से वर्णित है, किन्तु इस वर्णन में कृष्ण के भीतर सभी शक्तियों का समाहार अवश्य लक्षित होता है। वृन्दावन विहारी कृष्ण ही रसिक किशोर–रूप में एक मात्र नित्य विहारी पुरूष है। उनकी पराप्रकृति भी राधा है, जो चित–अचित विशिष्ट आहलादिनी निज शक्ति–रूपा है। सारा चराचर जगत इन्हीं रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्ब है।

भगवान कृष्ण पूर्ण पुरूषोत्तम परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण ईश्वर के भी ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण का वृन्दावन विहारी, मथुरावासी और द्वारकावासी के रूप में वर्णन मिलता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति और पराक्रम को अन्तर्लीन कर प्रेम और माधुर्य की साक्षात मूर्तिबन वे गोप–गोपियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे रघुपति होकर रसराज श्रृंगार के सौन्दर्य मण्डित रूप का विस्तार करने वाले हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का उपास्यनाम 'राधा वल्लभ' है।

हरिदासी सम्प्रदाय (सखी सम्प्रदाय) में भी श्रीकृष्ण का स्वरूप लगभग इसी प्रकार वर्णित है। स्वामी हरिदास ने नित्न विहारी कृष्ण की निकुंज लीलाओं का गान किया हे। इस सम्प्रदाय में निकुंज बिहारी कृष्ण सर्वोपरि है। ये कृष्ण न तो सृष्टि रचना प्रक्रिया में पड़ते हैं, न प्रभुताधारण कर संसार के क्रियाकलाप के प्रति दायित्व रखते हैं। अन्य अवतारों की भांति दुष्ट, दलन, राक्षस–विध्वंश आदि कार्य वे नहीं करते। सृष्टि–रचना, लय स्थिति आदि के समस्त कर्म उन्होंने

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 199।

ईश्वर पर छोड़े हैं जो कृष्ण से लघु माने गये हैं। ठकुराई से दूर रहकर निकुंज लीला में रत रहना ही कृष्ण का स्वभाव है। सहज श्रृंगार रस में लीन होकर निकुंज–लीला–परायण कृष्ण की उपासना और नित्य विहार वर्णन ही सहचारी या सखी का काम्य है।

गौड़ीय सम्प्रदाय : गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को ब्रजेन्द्र कुमार ने कहा है और यह माना है कि वे ब्रज में गोलोक की लालाओं–सहित–विहार करते हैं। वे परम

तत्व, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्दरूप हैं, श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियां हैं, उनमें एक आहलादिनी शक्ति है। राधा इसी शक्ति का रूप है। 'चैतन्य चरितामृत' में राधा और कृष्ण के स्वरूप तथा शक्तियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है जो गौड़ीय सम्प्रदाय को स्पष्ट करने में समर्थ है। इसमें ब्रजेन्द्र कुमार कृष्ण और गोलोक वासी कृष्ण में अभिन्नता स्वीकार की गयी है और कृष्ण की किशोरावस्था का ही वर्णन है, अतः लीलाओं का आधार कान्ता भाव या माधुर्य भाव है।

उपर्युक्त विवेचन में हम जो कृष्ण भक्ति के आधार पाते हैं, उसमें वल्लभ सम्प्रदाय सबसे महत्वपूर्ण है। अष्टछाप के कवि इसी सम्प्रदाय के समर्थक हैं।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टि मार्गीय भक्ति की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी–भक्त–कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है। वैसे तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करने वाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किन्तु जिन आठ कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे अष्टछाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ कवियों में चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे – कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्द दास और कृष्णदास। अन्य चार गोस्वामी विट्ठलदास नाथ के शिष्य थे। गोविन्द स्वामी, नन्ददास, क्षीतस्वामी और चतुर्भुज दास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य लीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे। इसी मान्यता के आधार पर इन्हें अष्टसखा कहते हैं। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा के बाद आठो सखा वहां सेवा के लिए प्रस्तुत हो गये। इन आठों कवियों में सूरदास सबसे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

सूरदास की शिक्षा आदि के विषय में किसी ग्रन्थ में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता, केवल इतना ही हरिराय जी ने लिखा है कि वे गांव से चार कोस दूर रहकर पद–रचना में लीन रहते थे और गान विद्या में प्रवीण थे। भक्त मंडली उनके पद सुनने एकत्र हो जाती थीं। उनके पद विनय और दैन्यभाव के होते थे, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के सम्पर्क में आने पर उन्हीं की प्रेरणा से सूरदास ने दास्य–भाव और विनय के पद लिखना बन्द कर दिया तथा सख्य, वात्सल्य और माधुर्य भाव की पद रचना करने लगे। डॉ0 दीनदयाल गुप्त ने उनके द्वारा रचित पच्चीस पुस्ताकें की सूचना दी है। जिनमें सूरसागर, सूर सारावली, साहित्य लहरी, सूर पचीसी, सूर

रामायण, सूर साठी और राधा रस केलि प्रकाशित हो चुकी हैं। वस्तुतः 'सूर सागर' और 'साहित्य लहरी' ही उनकी श्रेष्ठ कृतियां हैं। 'सूर सारावली' को अनेक विद्वान अप्रामाणिक मानते हैं, किन्तु ऐसे विद्वान भी हैं जो इसे 'सूरसागर' का सार अथवा उसकी विषय–सूची मानकर इसकी प्रामाणिकता के पक्ष में है। 'सूरसागर' की रचना 'भागवत' की पद्धति पर द्वादश स्कन्धों में हुई है।[1]

रूप चित्रण के लिए नखशिख–वर्णन को सूर ने अनेक बार स्वीकार किया है। ब्रज के पर्वों, त्योहारों, वर्षोत्सवों आदि का भी वर्णन उनकी रचनाओं में है।

सूर की समस्त रचना पद रचना है। ब्रजभाषा के अग्रदूत सूरदास ने इस भाषा को जो गौरव गरिमा प्रदान की, उसके परिणामस्वरूप ब्रजभाषा अपने युग में काव्य–भाषा में चित्रात्मकता, अलंकारिकता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिम्बात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान है। सूर ने ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद से हटाकर नगर और ग्राम के सन्धि स्थल पर बिठा दिया है।

संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता भी ब्रजभाषा को सुन्दर और सुन्दर सुगम बनाने में सक्षम है। ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी, संस्कृत और अरबी–फारसी के साथ सजीव एवं जीवन्त बन गई है। सूर का यह भाषा सौन्दर्य उनकी भक्ति पद्धति का प्रसाद है।

सूर की भक्ति पद्धति का मेरूदण्ड पुष्टिमार्गी भक्ति है। भगवान् भी भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है : 'पोषणं तद्नुग्रह' पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताये गये हैं–साधन रूप और साध्य रूप। साधन–भक्ति में भक्त का प्रयत्न करना पड़ता है किन्तु साध्य रूप में भक्त सब कुछ विसर्जित करके भगवान की शरण में अपने को छोड़ देता है।

पुष्टिमार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शान्त बैठ जाता है। इस मार्ग में भगवान के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक

---

1. **डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 201 ।**

बल दिया जाता है, भगवान का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके इस लोक से युक्त करने में सफल[1] होता है :

जा पर दीना नाथ ढरै
सोई कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जापर कृपा करै।
सूर पतित तंरिजाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै।

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्ति–पद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है – ज्ञान, योग, कर्म, यहां तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है। उन्होंने भगवदासक्ति के एकादश रूपों का वर्णन किया है।

'साहित्य लहरी' सूरदास के प्रसिद्ध दृष्टकूट पदों का संग्रह है। इसमें अर्थ गोपन–शैली में राधा–कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, साथ ही अलंकार निरूपण की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्व है।

सूर काव्य का मुख्य विषय कृष्ण भक्ति है। 'भागवत' पुराण को उपजीव्य मानकर उन्होंने राधा–कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' में किया हे। 'भागवत' के द्वादश स्कन्धों से अनुरूपता के कारण कुछ विद्वान इसे 'भागवत' का अनुवाद समझने की भूल कर बैठते हैं, किन्तु वस्तुतः सूर के पदों का क्रम स्वतंत्र है। वैसे उनके मन में 'भागवत' पुराण की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उन्होंने कृष्ण चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को चुना हे जिनमें उनकी अन्तरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव और कैशोर वय की विविध लीलाओं का चयन किया है, संभवतः यह साम्प्रदायिक दृष्टि से किया गया हो। सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है, उनके द्वारा दुष्टदलन आदि का वर्णन सामान्य रूप से ही किया है। लीला वर्णन में कवि का ध्यान संभवतः भाव चित्रण पर रहा है। विनय और दैन्य–प्रदर्शन के प्रसंग में जो पद सूर ने लिखे हैं, उनमें भी उच्च कोटि के भावों का समावेश है।

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 203।

सूर के भाव चित्रण में वात्सल्य–भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल–भाव और वात्सल्य से सने मातृभाव के प्रेमभावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। बालक की विविध उत्कंठाओं और भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। वात्सल्य–भाव के पदों की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं को भूलकर उनमें मग्न हो जाती है दूसरी ओर भक्ति के साथ श्रृंगार को जोड़कर उनके संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रवास–जनित वियोग के सन्दर्भ में भ्रमर गीत–प्रसंग तो सूर की काव्यकला का उत्कृष्ट निदर्शन है। इस अन्योक्ति एवं उपलम्य मेघा का परिचय प्राप्त होता है। सूरदास के भ्रमरगीत में केवल दार्शनिकता और आध्यात्मिक मार्ग का ही उल्लेख नहीं है, वरन् उनमें काव्य के सभी श्रेष्ठ उपकरण उपलब्ध होते हैं। सगुण भक्ति का ऐसा सफल प्रतिपादन अन्यत्र देखने में नहीं आता। इस प्रकार सूर काव्य में प्रकृति सौन्दर्य, जीवन के विविध पक्षों, वाल चरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीड़ाओं, गोचारण, रास आदि का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है।

'नारद भक्तिसूत्र' के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार हैं – गुण महात्म्या सक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, संख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और विरहास सक्ति। यद्यपि सूर ने इन सभी का वर्णन किया है, किन्तु उनका मन सख्य, वात्सल्यरूप, कान्त और तन्मयासक्ति में अधिक रमा है। तन्मयासक्ति का उदाहरण देखियेः

''उर में माखन चोर गड़े। अब कैसेहूं निकसत नहिं ऊधौ, तिरछै हैव जु अड़े''।।[1]

परम विरहासक्ति भ्रमर गीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली में व्यक्त हुई है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं। प्रेमासक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है। भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर सूर का ध्यान बराबर बना रहा। सिद्धान्त पक्ष की स्थापना में उन्होंने बल्लभाचार्य के शुद्धद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव आदि का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया। इतना ही नहीं, ईश्वर, माया, जीव, काल और सृष्टि रचना का विशद वर्णन करके उन्होंने

अपने भक्ति सिद्धान्तों को इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक आरे जहां गहन दार्शनिकता आ गयी है वहां दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीनता की भी कमी नहीं है। उनके भक्तिकाव्य के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनकी भक्ति–पद्धति का प्रमुख आधार पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्र बिन्दु मानकर वे वात्सल्य आदि की प्रेम व्यंजना करने में लीन रहे। भक्ति कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना। बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरूदण्ड मान लिया और प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मानकर विरह के महत्व को इन शब्दों में व्यक्त किया :

1. सूरसागरः भ्रमर गीत।

ऊधौ विरहौ प्रेम करै। ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंग न रसैपरै।

ज्यों घर दहै बीज अंकुर गिरि ते सत फरनि फरै।

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है। उनके कृष्ण–सखा रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं।

विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के नाम हैं। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेद बुद्धि सूरदास को अभीष्ट नहीं उन्होंने जहां राम कथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं; इनमें कोई भेदभाव नहीं है। उन्होंने जहां राम कथा का उल्लेख किया है, वहां यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं, इनमें कोई भेदभाव नहीं है। राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः कवि ने उन्हें शेष महेश शंभु नारद आदि की स्वामिनी कहा हे। निर्गुण–सिन्धु में अवगाहन को साधारण जन के लिए कठिन मानकर सूरदास ने सगुण कृष्ण भक्ति का पथ प्रशस्त किया : कौन काज या निर्गुण सो चिर जीवहु कान्ह हमारे।' पुष्टिमार्ग में स्वीकृत रागानुगा भक्ति ही उन्हें इष्ट रही है और उसके दोनों भेदों–कामरूपा और सम्बन्ध रूपा–का उन्होंने वर्णन किया है।

सख्य भक्ति का 'सूर सागर' में दो रूपों में प्रस्फुटन हुआ है। पहले रूप के अन्तर्गत गोप–ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा रूप में विचरण करना और कृष्ण के अतिरिक्त किसी और में ध्यान न रखना वर्णित हे। गोप ग्वालों का कृष्ण के साथ ऐसा अटूट प्रेम सम्बन्ध है, जिसमें न तो ऊंच–नीच का भेदभाव है और न किसी प्रकार का दुराव–छिपाव : दूसरा रूप है – गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम भावः उसमें विरहजन्य वेदना के कारण सूरदास ने तल्लीनता की मात्रा अधिक व्यक्त की है। विरह में विभोर गोपियों की व्यथा का सजीव वर्णन भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में देखने को मिलता है। भ्रमरगीत के पदों में गोपियों की मार्मिक विरह भावना, सगुण निर्गुण विवेचन, ज्ञान और भक्ति के तारतम्य तथा भक्ति की सीमाओं का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है वह सूरदास की भक्ति पद्धति के दार्शनिक एवं भावुक दोनों रूप सामने लाने में समर्थ है।

सख्य भक्ति के साथ सूरदास ने भक्ति को सुगम और सर्वजन–सुलभ बनाने के लिए वात्सल्य भाव द्वारा भी भगवान की आराधना–उपासना की है। सख्य भाव की अपेक्षा वात्सल्य भाव में भक्त को इष्टदेव का सामीप्य अधिक प्राप्त होता है। बाल लीला की रस मग्नता इतनी अधिक होती है कि कृष्ण का वैभव और उनकी असीम शक्ति का ज्ञान कुछ समय के लिए तिरोहित हो जाता है, जैसे बालक के पास उसके माता–पिता, बन्ध सखा आदि।

यशोदा और नन्द के द्वारा जिस वात्सल्य भाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण के अति मानवीय कृत्यों के प्रति अधिक आतंकपूर्ण प्रभाव तथा अतिमहत्व न होने से भक्त को भगवान के समीप जाने का पूरा–पूरा अवसर मिलता है।

वैष्णव सम्प्रदाय में माधुर्य भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है। कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य भाव में जो उत्कर्ष है, वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता। विभिन्न लीलाओं के प्रसंग माधुर्य भाव को प्रकट करने वाले मनोरम प्रसंग हैं, जिनमें भगवान की असीम शक्ति को प्रतिरूप में वरण करके गोपियां सुखी होती हैं। दानलीला आदि में असन्दिग्ध

---

1. **सूरसागर : भ्रमरगीत।**

शब्दों में सूर ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के अवलम्बन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य भाव की चरम परिणति गोपियों के माधुर्य भाव में ही हो सकती है। गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अतिप्राकृत दोनों प्रकार की गौरव–गरिमा का उपहास करके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इन्द्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है, जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम–प्रेषण लीलाएं हैं। माधुर्य–भाव की भक्ति के सम्बन्ध में अतिश्रृंगारिक और वासना प्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निवारण भी सूर की माधुर्य भक्ति वाले पदों से हो जाता है। यह स्मरख रखना चाहिए कि सूर की भक्ति पद्धति में जिस माधुर्य भाव को स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है। किन्तु इसी कारण उसे केवल एन्द्रिय नहीं कहा जा सकता । भ्रमर गीत में गोपियों की उक्तियां केवल ऐन्द्रिक सुख को व्यक्त नहीं करतीं, वरन् वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्छलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं। ज्ञान मार्ग के पथिक उद्धव द्वारा सगुण प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि यह भक्ति पद्धति वासना या श्रृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और उसमें माधुर्य भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी।[1]

'भंवरगीत' नन्ददास के परिपक्व दर्शन–ज्ञान, विवेक–बुद्धि, तार्किक शैली और कृष्ण–भक्ति का परिचयात्मक काव्य है। इसके पूर्वार्द्ध में गोपी–उद्धव संवाद है और उत्तरार्ध में कृष्ण–प्रेम में गोपियों की विरह दशा का वर्णन है। इस रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण–निराकर ब्रह्म की उपासना का खण्डन करते हुए साकार कृष्ण की भक्ति की स्थापना करना है। पूर्वार्द्ध कवि की विचार वृत्ति का द्योतक है और उत्तरार्द्ध रागात्मिका सरस वृत्ति का परिचय देता है। दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग कियागया है। 'भागवत पुराण' में वर्णित भाव भी कवि की वाणी से नवीन एवं मोहक रूपधारण करके ही आये हैं। इससे नन्ददास का पाण्डित्य निदर्शित होता है।

'सिद्धान्त पंचाध्यायी' कृष्ण की रासलीला से सम्बन्ध रखने वाली रचना है। इसमें कृष्ण, वृन्दावन, वेणु, गोपी, रास आदि ग्रन्थों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत कीगयी है। रासलीला के

आध्यात्मिक पक्ष के उद्घाटन में इस ग्रंथ से अच्छा प्रकाश पड़ता है। रासलीला के लौकिक श्रृंगार भाव को कवि ने पारलौकिक ध्येय की ओर उन्मुख रखा है।

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 205।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रजभाषा में है। मधुर और परिचित शब्दों का चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका कारण उनका सुन्दर एवं उपयुक्त शब्द चयन ही है। बनाक, लुनाई, रावरे, नीकी, आनि आदि प्रचलित शब्दों का सुष्ठु प्रयोग 'जड़िया' नन्ददास में भरा पड़ा है। लोकोक्ति मुहावरों पर भी कवि का पूर्ण अधिकार था। संगीत–प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का ध्यान रखने से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस एवं मार्मिक प्रसंगों की उद्भावना में जैसी ललित[1] एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है।

उपर्युक्त सर्वेक्षण के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास जिस कृष्ण भक्ति की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं नन्ददास भी उसी क्रम में अपनी काव्य–परम्परा का विस्तार करते हैं। नन्ददास ने अपने कृष्ण भक्ति की जो आध्यात्मिक व्याख्या की है उससे वे सूर के बाद के स्थान के अधिकारी हो जाते हैं। उनकी अन्य विशेषता भाषा सम्बन्धी परिमार्जन है। वे विट्ठल दास के प्रेरणा से प्रेरित होकर कृष्ण भक्ति परम्परा का विस्तार करते हैं जो वल्लभाचार्य के बाद आते हैं।[1]

नन्ददास : अष्टछाप में सूर के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके सम्बन्ध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि और कवि गढ़िया, नन्ददास जड़िया। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रास पंचाध्यायी' है जो रोला छन्दों में लिखी गई है। इस पुस्तक में, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है। अनुप्रास और चुने हुए संस्कृत पर विन्यास इनकी रचना में देखे जा सकते हैं। नन्ददास जी

ने विधिवत् शास्त्रानुशीलन किया था। उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनके द्वारा रचित पन्द्रह ग्रंथों को देखकर उनका रचना–वैविध्य स्पष्ट हो जाता है। इन ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं –

अनेकार्थ मंजरी, मान मंजरी, रस मंजरी, रूप मंजरी, विरह मंजरी, प्रेम बारह खड़ी, श्याम सगाई, सुदामा चरित, रूक्मिणी मंगल, भवॅरगीत, रास पंचाध्यायी, सिद्धान्त–पंचाध्यायी, दशमस्कन्ध भाषा, गोवर्धन लीला नन्ददास–पदावली। 'अनेकार्थ मंजरी' एक प्रकार का पर्याय–कोश ग्रंथ है। इसके मंगलाचरण में शुद्धाद्वैत सम्बन्धी दार्शनिक विचारों को प्रकट किया गया है। 'मान मंजरी' में भी 'अमर कोश' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची लिखे गये हैं। चमत्कार यह है कि छन्द के भी प्रथम पंक्ति में पर्यायवाची है और दूसरी में कवि ने उस शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के श्रृंगार का वर्णन किया है। यह ग्रंथ नन्ददास के भाषा विषयक प्रौढ़ ज्ञान और पाण्डित्य को प्रदर्शित करता है। 'विरहमंजरी' भावात्मक काव्य है। इसमें कृष्ण के वियोग में एक ब्रजवासी की विरह–दशा का वर्णन है। 'रूप मंजरी' नन्ददास का लघु आख्यान काव्य है। सुदामा चरित की कथा 'श्रीमद् भागवत' से ग्रहीत है। इस लोकप्रिय कथानक को कवि ने कृष्ण भक्ति के फलक पर अवस्थित कर सख्यभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

'रास पंचाध्यायी' नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती है। इसमें लौकिक एवं पारलौकिक प्रेम को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। वाह्रय रूप में यह काव्य लौकिक गोपी प्रेम को ही लेकर चलता है, किन्तु प्रच्छन्न रूप से आध्यात्मिक कृष्ण प्रेम भी इसमें अनुस्यूत है जिसे भक्तगण सहज ही पालते हैं। वियुक्त आत्मा (गोपी)। रासलीला के माध्यम से रस रूप परमात्मा (कृष्ण) से मिलने के लिए प्रयत्नशील है। 'रास पंचाध्यायी' भाषा विषय प्रतिपादन शैली उद्भावनाओं की दृष्टि से नन्ददास की 'जड़िया' उपाधि को सार्थक बनाती है।[2]

प्रेम–पीर से व्यथित एक गोपी की उक्ति दृष्टव्य है :

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 209।

1. सं0 डा0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 116।

2. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 209।

जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी।।
सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को इहैं विचारत जाय।
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सो न कहिए।
जैसे विथामूक बालक की अपने तन–मन रहिए।

वियोग–श्रृंगार के वर्णन में परमानन्द दास ने अद्‌भुत सफलता प्राप्त की है। मान की अवस्थाओं का वर्णन भी गोपियों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया गया है। राधाकृष्ण के नखशिख–वर्णन में भी इन्होंने रूचि ली है। भाषा की दृष्टि से ब्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, कान्ति और छटा इनके पदों में सर्वत्र व्याप्त है। चित्रात्मकता, आलंकारिता और प्रान्जलता इनकी भाषा के विशेष गुण है। गेय पदों में रचना करने के साथ–साथ दोहा–चौपाई शैली का भी यत्र तत्र प्रयोग लक्षित होता है। अष्टछाप के कवियों काव्य सौष्ठव की दृष्टि से सूरदास और नन्ददास के बाद इन्हीं का स्थान हे।

कृष्णदास : 'वल्लभ दिग्विजय' के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि वल्लभाचार्य ने मथुरा के विश्राम घाट पर निवास करते हुए कृष्णदास को 1510 ई0 में अपनी शरण में लिया और दीक्षा देकर पुष्टिमार्ग भक्तों तथा अष्टसखाओं में शामिल किया। मन्दिर की प्रबन्ध व्यवस्था को दृढ़ता से चलाने के कारण इनके विपक्षी या निन्दक भी पैदा हो गये थे।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक भी थे। इन्होंने बाल लीला, राधाकृष्ण प्रेम प्रसंग, रूप सौन्दर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्णन किया है। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, शताधिंक फुटकर पद ही उपलब्ध है।

कृष्णदास का एक पद एक जनश्रुति के साथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है।

1. सं0 डा0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास पृ0 117।

कहते हैं कि यह पद उनके द्वारा गोवर्धन लायी गयी वेश्या द्वारा गाया गया। पद गायन समाप्त होते ही वेश्या के प्राण विसंर्जित हो गये।[1]

मो मन गिरधर छवि पर अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयो तहांई ठटक्यौ
सजल स्याम धन चरनशील है, फिर चित्त अनतन भटक्यो,
'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर भटक्यौ।

कृष्णदास के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। उनके श्रृंगार पूर्ण पदों में भाषा की प्रान्जलता द्रष्टव्य है। सुन्दर तत्सम ललित पदावली से संयुक्त भाषा का अपना आकर्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि इनकी मातृभाषा गुजराती थी। अष्टछाप के कवियों में कुंभनदास का नाम भी उल्लेखनीय है। भक्तमाल में उनके चरित्र का उल्लेख नहीं है। एक बार सुन्दर कंठ स्वर से प्रभावित होकर उन्हें सीकरी आने का निमंत्रण दिया तथा ये वहां गये। वहां पहुंचकर उन्होंने अकबर को यह पद गाकर सुनाया।

भक्तन की कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटी विसर गयो हरिनाम।।
जाको देखे दुःख लागै ताकौ करन परो परनाम।
कुंभनदास लाल गिरधर बिन यह सब झूठो धाम।।

अकबर उनकी भगवद् भक्ति से प्रसन्न हुआ और उनसे अनुरोध किया कि वे कुछ मांग लें। सबसे पहले उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि भविष्य में उन्हें सीकरी मत बुलाना।

कुम्भनदास जी की शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता उनकी रचनाओं में भी पाण्डित्य की झलक नहीं है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का बोध उन्होंने बल्लभाचार्य की संगति में रहकर प्राप्त लिया था, क्योंकि बल्लभाचार्य के

---

1. डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 117।
2. वही : पृष्ठ : 209

के अष्टछापी शिष्यों में प्रथम शिष्य थे और सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना पद रचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता। कांकरोली विद्या–विभाग से प्रकाशित पद संग्रह में उनके 186 पद हैं। उनके पदों में श्रीनाथ की साम्प्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है।

परमानन्द दास : परमानन्द अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तर प्रदेश) में एक निर्धन काव्य कुंज ब्राह्मण–परिवार में हुआ था इनकी रचनाओं का प्रकाशन 'परमानन्द सागर' परमानन्द के पद' और 'वल्लभ सम्प्रदायी कीर्तन पद–संग्रह' के नाम से हुआ है। इनके अतिरिक्त 'दानलीला' और चरित भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं। परमानंद जी के सर्वाधिक पद बाल लीला विषयक हैं। लीला वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों में प्रबन्धात्मकता नहीं है। शुद्ध मुक्तक की भांति उनका रसास्वादन किया जा सकता है। कृष्ण के ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य पक्ष की लीलाओं का गान किया है। इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्ण विषयक है। बाल मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र इनके काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। पूर्वराग–अवस्था की वियोग वेदना और मिलन की उत्कट कामना की व्यंजना इनके पदों की अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

गोविन्द स्वामी–का जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य के अन्तर्गत आंतरी गांव में 1505 ई0 में हुआ था। इनके परिवार के विषय में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनकी रचनाओं तथा प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि ये गृहस्थ थे और इनकी एक पुत्री भी थी। संसार से वैराग्य होने के बाद ये ब्रजमण्डल के महावन नामक स्थान में आकर बस गये थे और वही रहकर भजन कीर्तन में लीन रहते थे। किसी गायक के मुख से इनका बनाया पद सुनकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी प्रभावित हुए थे। 1535 ई0 में इन्होंने गोस्वामी अष्टछाप में सम्मिलित हो गये। गोविन्द स्वामी ने किसी स्वतंत्र ग्रन्थ का प्रणयन

1. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 211।

नहीं किया। भजन कीर्तन के लिए पद ये समय–समय पर लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविंद स्वामी के पद' के नाम से प्रसिद्ध है। मुख्यतः इन्होंने राधाकृष्ण की श्रृंगार लीला विषयक पद–रचना की है। इनके द्वारा रचित 600 पद बताये जाते हैं इनमें 252 पद पुष्टि सम्प्रदाय में अधिक प्रचलित हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रज है किन्तु उसमें लालित्य और सौष्ठव वैसा नहीं जैसा सूरदास, नन्ददास की रचनाओं में मिलता है।

छीत स्वामी : छीत स्वामी (1515–1585) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण थे, घर में जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौवनावस्था में ये उदंड प्रकृति के थे। ये गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन के निकट पूंछरी नामक स्थान पर एक तमाल वृक्ष की छाया में रहते थे। काव्य और संगीत में इनकी इन्हीं विशेष रूचि थी, अतः सारा समय कार्यों में व्यतीत करते थे। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ नहीं मिलता। इन्होंने स्फुट पदों की रचना की। कविता साधारण कोटि की है फिर भी भक्ति–भाव से पूर्ण है। उनकी निम्नलिखित पदों में ब्रजधाम के प्रति आस्था व्यक्त है।[1]

अहों विधना ! तो पै अंचरा पसार मांगो

जन्म–जन्म दीजो मोटिं याही ब्रज वसिनौ

चतुर्भुज दास–चतुर्भुज दास नाम से चार कवि प्रसिद्ध हैं किन्तु अष्टछाप के चतुर्भुज दास के साथ पुष्कल प्रमाण हैं। ये कुम्भनदास के छोटे पुत्र थे। इनका जन्म 1530ई0 तथा मृत्यु 1585 ई0 में हुई थी। इन्होंने गान विद्या की शिक्षा अपने पिता कुम्भनदास से प्राप्त की थी। इनका कोई स्वतंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। ये वाल्यकाल से काल रचना करने लगे थे। इनके स्फुट पदों को ही 'चतुर्भुज कीर्तन–संग्रह' कीर्तनावली और दानलीला शीर्षकों से प्रकाशित किया गया है। चतुर्भुज दास की रचना में श्रृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण जन्म से

---

1. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 211।

लेकर गोपी विरह तक ब्रजलीला गान इन्होंने किया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस प्रकार के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

यूं तो कृष्ण भक्ति के और अनेक सम्प्रदाय हैं किन्तु हम अष्टछाप के कवियों के परिचय के पश्चात् मीरा एवं रसखान का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। भक्तिकाल (कृष्ण भक्तिकाव्य) में कुछ ऐसे भी कवि हुए हैं, जिन्होंने सम्प्रदाय विशेष में न बंधकर राधा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का स्वतंत्र रूप से वर्णन किया। इनमें मीराबाई और रसखान प्रभु हैं।

मीराबाई : मीराबाई के सम्बन्ध में वाह्य एवं अन्तः साक्ष्य उतना मौन अथवा अनिश्चित नहीं, जितना अन्य मध्ययुगीन कवियों के सम्बन्ध में है। उनके स्वरचित विविध पद उनके जीवन पर पड़ने वाले विभिन्न प्रभावों तथा उनके अन्य परिणामों के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। उनके भक्ति–पदों की सर्वजन मनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में ही इतना लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के सन्तों, भक्तों, कवियों तथा रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। विभिन्न भक्तमालों एवं वार्ता ग्रन्थों में भी मीरा सम्बन्धी अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं। राजपूताना के कतिपय प्रशस्तिपत्रों अभिलेखों, दानपत्रों और कुछ प्राचीन चित्रों में उनके जीवन से सम्बन्धित कई तथ्य उपलब्ध है। मीराबाई के नाम के सम्बन्ध में रूप में उच्चारण पश्चिमोत्तर भारतीयों के प्रकृति के अनुसार है।[1]

मीरा के जन्म स्थान और वंश के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। यह मान्यता सर्व सम्मत है कि उनका जन्म 'मेड़ता' समीपवर्ती गांव 'कुड़की' में राठौर वंश की मेड़तिया शाखा में हुआ था। इस शाखा के प्रवर्तक राव दूदा थे। मीरां उन्हीं के पुत्र राव रत्न सिंह के घर पैदा हुई। कर्नल हाड ने भ्रमवश मीरा को राव दूदा की पुत्री लिखा है जिसका अनुकरण अनेक परवर्ती विद्वानों ने भी किया। अब यह भ्रान्ति निमूल सिद्ध हो चुकी है। मीरा के पिता रत्न सिंह को कुड़की में न रह पायीं क्योंकि उनकी दो वर्षों की अवस्था में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। राव रत्न सिंह सदैव युद्धरत रहने के कारण पुत्री के लालन–पालन में असमर्थ थे, अतः राव दूदा नहीं मीरा को अपने पास मेड़ता ले आये। राव दूदा तलवार के धनी होने के साथ–साथ

---

[1] सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 231।

परम वैष्णव भक्त भी थे। उन्हीं की छत्रच्छाया में रहकर बालिका मीरा के हृदय में गिरधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हुई। मीरां का चचेरा भाई जयमल भी भक्त प्रकृति का राजकुमार था। निरन्तर युद्ध और मृत्यु से होली खेलने वाले राजपूतों के यहां उन दिनों शिक्षा–दीक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। अतः पारिवारिक वातावरण समाज में प्रचलित लोक गीत एवं यदा–कदा राजमहलों में आने वाले सिद्ध सन्यासियों या रमते योगियों के भक्तिमय उपदेश ही मीरा के पाठशाला बने। लोक गीतों की मधुरता एवं राजसी कला–प्रियता ने उन्हें अनायास संगीत प्रेमिका बना दिया तो साधु संगीत के प्रभाववश उनका हृदय भक्ति और वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ, जिसकी अनुगूंज उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है।

मीराबाई का विवाह चित्तौड़ के राजा राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से 1516 ई0 में हुआ। दुःसंयोगवश विवाह के सात वर्ष पश्चात् ही भोजराज का स्वर्गवास हो गया। जिससे मीरा के अर्न्तमन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्तः संघर्ष प्रकट रूप से उसके जीवन का अंग बन गया। मीरां तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुईं। उन्होंने कहा –

जगसु मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।
वरन् कर्‌यां हरि अविनाशी म्हारों काल–व्याल न खासी।।

मीरां अब तथाकथित लोक बन्धनों से मुक्त हो गई।

राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी विक्रम सिंह को मीरा का यह आचरण असहय लगा। उसने मीरा को असंख्य यातनाएं दीं, पर मीरा का प्रभु प्रेम अचल रहा। मीराबाई पुष्कर–यात्रा पर गयीं। वहां से लौटती हुई वृन्दावन चली गईं। वहीं इनकी भक्ति धारा माधुर्योपासना के रस में समाहित हुई। वहां इनकी भेंट प्रसिद्ध कृष्ण–भक्त जीवन गोस्वामी से हुई, जो इनकी प्रेम निष्ठा से बड़े प्रभावित हुए। वृन्दावन में गिरधर गोपाल के गीत गाते–गाते न जाने मीरा को कब और कब कैसे यह आभास हुआ कि उनके नटवर नागर तो कभी वृन्दावन जी मन्दिर को छोड़कर द्वारका जा विराजे हैं। यह आभास

---

1. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 285।

होते ही मीरा वहां से द्वारका चली गईं। वहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में भगवान की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन कीर्तन करते हुए मीरां ने शेष जीवन व्यतीत किया। मीरां ने स्फुट पद लिखे हैं जो 'मीराबाई के पदावली' के नाम से प्रकाशित हैं।

मीराबाई के काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छवास का साकार रूप है। उनकी वृत्ति एकान्ततः और समग्रतः प्रेम–माधुरी में रमी है। अपने आराध्य 'गिरधर गोपाल' की विलक्षण रूप छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेकत्र शब्दधारा बनकर फुट पड़ी है। कृष्ण प्रेम में मतवाली मीरा ने मन ही मन उनके मधुर मिलन के स्वप्न संजोकर तज्जन्य आनन्द की अनेक विद्य व्यंजना की है, किन्तु उनकी कविता का प्रमुख रस विप्रलम्भ श्रृंगार है। उनकी विरह भावना का कोई ओर छोर नहीं। उनका एक–एक उनके हृदय की आकुलता का परिचय देता है–[1]

विरहनी बावरी सी भई।
ऊँची चढ़ि अपने भवन में टेरल हाय दई।
ले अंचरा मुख अंसुवन पोंछत उधरे गात सही।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर विछुरत कछु न कही।।

वियोग श्रृंगार के अतिरिक्त मीरा काव्य में शान्त रस की भी व्यंजना हुई। सांसारिक धन–वैभव की क्षण भंगुता का वारम्बार उल्लेख करते हुए उन्होंने निर्वेद भाव की अभिव्यक्ति है।

उनकी भक्ति भाव पद्धति और शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से सारयुक्त है, किन्तु उनमें शास्त्र दृष्टि स्पष्टतः सीमित और भाव पक्ष सबल है। वास्तव में माधुर्य और दैन्य भाव उनके काव्य में घुल मिलकर एक हो गये हैं। मीराबाई के काव्य की भाषा सामान्यतः राजस्थानी–मिश्रित ब्रज है। उनके पदों में गुजराती भाषा का विशेष पुट है। खड़ी बोली और पंजाबी का भी उनकी कविता में पर्याप्त प्रभाव दिखाई देता है। संगीत एवं छन्द विधान की दृष्टि से मीरां का काव्य उच्च कोटि का है। उनके पद विभिन्न राग रागिनियों में बद्ध है। काव्य में अलंकारों की सायास योजना कहीं दिखाई नहीं देती। अनुभूति के सहज मार्मिक प्रवाह में, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्वतः उनकी वाणी का अनुसरण करते चले हैं।

---

1. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236।

वस्तुतः हम देखते हैं कि मीरा का ह्रदय कृष्ण भक्ति में रंगा हुआ था। वे कृष्ण के माधुर्य रूप की उपासिका थीं।

रसखान : रसखान के काव्य में प्रेम की वेगवती धारा प्रवाहित होती है उसमें इतना प्रचंड वेग है कि पाठक को अचानक बहा ले जाती है। इस महान कवि के जन्म–समय, शिक्षा–दीक्षा, कार्य–व्यवसाय निधन–काल आदि के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विद्वानों ने उनकी रचनाओं के कतिपय संकट सूत्र ग्रहण कर उनके जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं :[1]

देखि गदर हित साहब, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा–वंश की, ठसक छोरि रसखान।।
प्रेम निकेतन श्री बनहिं, आई गोवर्धन धाम।
लहयो सरन चित चाहिके, जुगल सरूप ललाम।।

इन पंक्तियों में 'गदर' और 'दिल्ली श्मशान बन जाने' का समय विद्वानों ने 1555 ई0 अनुमानित किया है क्योंकि इसी वर्ष मुगल–सम्राट हुमायूं ने दिल्ली के सूवंशीय पठान शासकों अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था।

इस प्रकार इस घटना का काल 1555 ई0 है, जिसके आधार पर रसखान का जन्मकाल 1533 ई0 मानना समीचीन प्रतीत होता है। जहां तक निवास स्थान की बात है 'प्रेमवाटिका में स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़कर गोवर्धन धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म स्थान एवं प्रारम्भिक निवास दिल्ली के आस–पास मानना उपयुक्त है।

यह स्वीकार किया जाता है कि रसखान ने गोस्वाी विट्ठलनाथ जी से गोस्वामी बल्लभ–सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य बल्लभानुयायी कृष्ण भक्त कवियों जैसे प्रेम माधुरी एवं भक्ति शैली से इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी उन्हें वल्लभ सम्प्रदायानुयायी बताया गया है। 'मूल गुसाई चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरित मानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है : ''जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं' रसखान जाई सुनावत भौ'' रसखान–काव्य के प्रायः सभी

---

1. सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236।

समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेम वाटिका' (1614) उनकी अन्ति काव्य कृति है। संभवतः इसकी रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात् 1618ई0 के लगभग उनका देहावसान हो गया होगा।[1]

रसखान का सम्पूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेम वाटिका' और 'दान लीला' नामक विशिष्ट आकारवद्ध कृतियों के अतिरिक्त उनकी सम्पूर्ण वाणी मुक्तग सवैये में आबद्ध है, जिन्हें विभिन्न संग्रहकर्ताओं ने अपनी–अपनी रूचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखान' है। इधर कल्याण के 'सन्तवाणी अंक' में रसखान की एक अन्य लघु कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस प्रकार रसखान की प्रमुखतः चार रचनाएं प्रामाणिक मानी जा सकती हैं। सुजान रसखान, प्रेम वाटिका, दानलीला, अष्टयाम। 'सुजान रसखान' स्फुट छन्दों का संग्रह है, जिसमें 181 सवैये, 17 कवित्त, 12 दोहे तथा 4 सोरठे हैं।

उन छन्दों का प्रतिपाद्य भक्ति, प्रेम, राधाकृष्ण की रूप माधुरी, वंशी–मोहिनी एवं कृष्ण लीला सम्बन्धी सरस प्रसंग है। 'प्रेम वाटिका' के अन्तर्गत कवि ने राधा कृष्ण को प्रेमोधान के मलिन–माली मानकर प्रेम के गूढ़ तत्व का सूक्ष्म निरूपण किया है। यह 53 दोहे की लघु कृति है। 'दान लीला केवल 11 छन्दों का छोटा सा पद्य–प्रबन्ध है, जिसमें कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग का राधाकृष्ण संवाद के रूप में चित्रित किया है। 'अष्टयाम' में संकलित कई दोहों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के प्रातः जागरण से रात्रि शयन पर्यन्त उनकी दिनचर्या एवं विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रसखान भक्त कवि है। वस्तुतः वे 'भक्त' और 'कवि' से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति है। उनका अन्तर प्रेम–ताप की उष्णता से विगलित होकर मानो विविध भाव सरणियों के रूप में उमड़ पड़ा है। उनकी इस एकान्तिक प्रेममयी उमंग ने उनके काव्य को सचमुच 'रस की खान' बना दिया है। बादशाह वंश के जन्मजात मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्य लिप्सा जन्य द्वन्द्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा, प्रेम और भक्तिमय रस सागर में निमज्जित किया, उसी में उनके वाणी का विलास यशधन के निमित्त था। उन्होंने तो अनन्त अलौकिक रस के आगार

---

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 237।

श्रीकृष्ण के लीला–गान के रसास्वादन में ही स्वयं को कृत–कृत्य समझा : ''त्यों रसखानि वही रसखानि वही रसखानि जु है रसखानि, सो है रसखानि।[1]'' प्रेम तत्व के निरूपण में रसखान को अद्‌भुत सफलता मिली है। उनका प्रेम वर्णन बड़ा सूक्ष्म, व्यापक एवं विशद है। उनके काव्य का प्रमुख रस श्रृंगार है, जिसके आलम्बन है – श्रीकृष्ण उनके रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मनः स्थिति के चित्रण के माध्यम से रसखान ने श्रृंगार की मधुर अभिव्यंजना की है। श्रृंगार के उपरांत रसखान–काव्य में चित्रित दूसरा प्रमुख रस वात्सल्य है। श्रीकृष्ण के बाल–रूप की माधुरी का वर्णन उन्होंने यद्यपि गिने–चुने छन्दों में ही किया है, पर उनकी काव्यात्मक गरिमा सूर और तुलसी के बाल वर्णन की समता करने भली–भांति सक्षम हैं। उसका एक निदर्शन नीचे प्रस्तुत है

---

[1] सं0, डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 238।

धूरि परे अति सोभित स्याम जू कैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अंगना पग पैंजनि बाजति पीरी कछोटी।
वा छवि को रसखानि विलोकत बारत काम कला निधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि हाथ सो ले गयो माखन रोटी[1]।

रसखान की काव्य–भाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक ब्रज है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण के सहज समावेश ने उनकी काव्य भाषा को अत्यन्त सरस और सजीव बना दिया है। विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों के कारण इसमें जो चुटीलापन आ गया है, उससे उसकी अर्थवत्ता और बढ़ गयी है। शुद्ध चमत्कार से मुक्त रहकर रसखान ने सिद्ध कर दिया है कि सरल और स्वाभाविक भाषा में रचित काव्य सहृदयों के हृदय को अधिक आनन्द प्रदान कर सकता है। अलंकार–मोह का उनके काव्य में सर्वथा अभाव है। वे प्रेम एवं श्रृंगार के कवि हैं, अतः उन्होंने अपने विषय के अनुरूप सवैया, कवित्त एवं दोहा–छन्द वृत्ति का सूचक है। वे किसी साम्प्रदायिक सिद्धान्त में आबद्ध नहीं है। उनका प्रेम निरूपण सूफियों की प्रेम पद्धति का अनुकरण न होकर स्वच्छन्द है। उनका श्रृंगार–चित्रण किसी रीति, विशेष में सीमित नहीं है। उनकी भक्ति हृदय की मुक्त साधना है और उनका श्रृंगार–वर्णन भावुक हृदय की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। उनके काव्य में उनके

स्वच्छन्द मन के सहज उद्गार हैं। इसीलिए उन्हें स्वच्छन्द काव्यधारा का प्रवर्तक कहा जाता है।

वस्तुतः रसखान के काव्य में प्रेम का स्वरूप सदैव सहृदयों एवं समीक्षकों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में रसखान के प्रेम तत्व का अनुसंधान है। यहां परम्परा के क्रम में रसखान का परिचय मात्र दिया गया है। आगामी अध्याय में रसखान की रचनाओं का सांगोपांग विवेचन किया जायेगा।

(ख) संस्कृति समन्वय की विराट् चेष्टा :– मध्ययुगीन हिन्दी–साहित्य का पूर्व– मध्ययुग भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। 'भक्तिकाल' शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी–साहित्य का 'स्वर्ण–युग' कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी–काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता हैं। वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिणाम दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य–विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं, जिस समय इस काल के लिए 'स्वर्ण–युग' शब्द का प्रयोग किया गया था तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था।

निर्गुण सन्त–काव्य :– भक्तिकाल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त–काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन सन्त कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण–निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। भक्ति के क्षेत्र में ये सन्त कवि भारतीय निर्गुण–भावना के समीप होते हुए अद्वैत–दर्शन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी; दार्शनिक मतवाद या भेदाभेद के प्रपंच से उनका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खण्डन

---

1. सं0 विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र : रसखान रचनावली, पृष्ठ 24।

किया। मिथ्याआडम्बरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज–सुधारक कर सका था और न ही परवर्तीयुग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन सन्त कवियों का एक बड़ा भाग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की प्रतिष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण सन्तों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा प्रहार किया। विद्वान दार्शनिक पण्डितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वर्ग तक था, किन्तु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए।

सन्त कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्र–निर्माण के लिए अपना निजी सन्देश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत–दृष्टि से एकेश्वरवाद के समर्थक थे; भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकाण्ड रहित निष्ठा और समर्थन में विश्वास रखते थे और चरित्र–विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन–निर्माण की कसौटी मानते थे।

इसके साथ ही सन्तों में समन्वय–दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास निरंजनी आदि सन्तों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति–भावना, सिद्धों–नाथों की सहज–सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजन–सुलभ थी, फलतः सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। सन्तों ने शास्त्र–वचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठोर चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र मर्यादा भी शिथिल हो गयी। मानव को परम्परागत रूढ़ शास्त्र–परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण सन्त कवियों की आमानुभवमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुतः ये कवि अपने युग के मिथ्याडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्घाटन

---

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 268।

का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी मिथ्या आ अननुभूत तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।

इस युग के सन्त कवि ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं चौराहे पर सिर पर कफन बांधकर खड़ा हूं, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है, जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का उद्‌बोध करना उस युग में सम्भव हो सका, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।[1]

यह ठीक है कि इन कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही पहले पढ़ते रहे, किन्तु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा वह काव्यहीन भी नहीं है, जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जन–भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएं जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गयी है। आज भी इन सन्तों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

एक बात और ध्यातव्य है। इन सन्तों ने अपने युग में जिन धारणाओं और मान्यताओं का खण्डन किया, उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पन्थ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीर–पन्थ, नानक–पन्थ, मलूकदासी, शिवनारायणी आदि पन्थों का उदय इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि सन्तों की साधना उनके बाद पुनः पूजा का विषय बन गयी। गुरूपूजा तो इन पन्थों में अनिवार्य ही हो गयी। नानक के नाम से सिख–मत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीर–पन्थ चल पड़ा। वस्तुतः जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है। वीर–पूजा की भावना भी उसे पन्थ बनाने में प्रेरक होती है। इसी माताग्रह के कारण परवर्ती शिष्य–परम्परा मूल उद्‌देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि प्रेरक होती है। इसी मताग्रह के कारण परवर्ती

शिष्य–परम्परा मूल उद्देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि निर्गुण सन्त–काव्य परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार जाये, तो वह मानव–समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में उसे धर्म–निरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। सन्तों ने तथाकथित जाति या वर्ण–व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि में मानववाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था संभव था। जिस लक्ष्य को ये सन्त कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्वजनसुलभ ध्येय था। अतः अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, समता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा–सेवा, रोजा, नमाज, मन्दिर–मस्जिद, तीर्थ–व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।

प्रेमाख्यानक काव्य :– निर्गुण सन्त कवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी–साहित्य के इतिहास–ग्रन्थों में 'प्रेमाख्यानक काव्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस धारा के कवियों का विस्तारपूर्वक पहले वर्णन किया गया है। भक्तिकाल को 'स्वर्ण–युग' बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी किसी से कम नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य की दो धाराएं प्राप्त होती हैं–एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करने में अपने कवि–कर्म की सार्थकता समझते हैं, दूसरी धारा के कवि लौकिक प्रेम के आख्यानों को कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिन्दी–साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान प्राप्त नहीं हो सका जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न प्रेमाख्यानकारों में सूफी–सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाले सन्तों का बाहुल्य है। इन सन्तों ने भारतीय हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर प्रबन्धकाव्यों की रचना की और हिन्दू धर्म में स्वीकृत देवी–देवताओं का भी अपने काव्यों में

---

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 269।

उल्लेख किया। भारतीय जन–मानस में व्याप्त प्रेम–कथाओं को स्वीकार करने का सम्भवतः यही प्रमुख कारण था कि हिन्दू जनता भी सूफी प्रेमाख्यान–काव्यों से कथा के स्तर पर तादात्म्य कर सके। कुछ विद्वानों ने एक अन्य प्रच्छन्न कारण की कल्पना की है। उनके मतानुसार सूफी सन्त कवि इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए काव्य–प्रणयन में लीन हुए थे। किन्तु इन प्रबन्धकाव्यों के अनुशीलन से ऐसा उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। एकेश्वरवाद की भूमि पर इस्लाम की भावना की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। मुल्ला दाउद, जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी आदि सूफी कवियों के काव्य तथा हिन्दू कवियों में नन्ददास, नारायणदास, पुहकर आदि की रचनाएं आध्यात्मिक प्रेमाख्यानक काव्य–परम्परा में प्रमुख है। दक्खिनी हिन्दी में भी प्रेमाख्यात्मक परम्परा में लिखे आख्यान–काव्य उपलब्ध होते हैं। निज़ामी, मुल्ला वज़ही, गवासी, तवई आदि दक्खिनी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं।

सूफी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवि निर्गुणोपासक थे, किन्तु ईश्वर विषयक वर्णनों में प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करने के कारण सगुण का आभास भी उनके काव्य में प्राप्त होता है। सूफी–सम्प्रदाय में आत्मा सदैव परमात्मा की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती है। इस व्याकुलता में ईश्वर का प्रेम ही उसका एकमात्र सम्बल है। यह प्रिय–वर्णन काव्य में नायक–नायिका के प्रेम–वर्णन के सदृश ही है।

सूफी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से हिन्दू–मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास किया है। यह प्रयास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस्लामी दर्शन और मुस्लिम संस्कृति की श्रेष्ठता पर इन कवियों का ध्यान सतत रहा है। कबीर को यह श्रेय प्रदान किया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर ने हिन्दू–मुस्लिम–ऐक्य का कोई प्रयास नहीं किया था। यदि यह प्रयास कहीं काव्य के माध्यम से लक्षित होता है, तो इन्हीं प्रेमाख्यानों में ही काव्य के माध्यम से भावात्मक एकता का यह प्रयास हिन्दी–भक्ति–साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 270।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफी कवि जायसी के 'पद्मावत' की समीक्षा करते हुए उसके प्रेम और मानवतावादी प्रभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन–दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखाई पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियां हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास उन्होंने नहीं दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।''

संक्षेप में सूफी सन्त–काव्य–परम्परा का समस्त काव्य सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य में सर्वथा भिन्न, किंतु जन–मानस के अति निकट है और समाज को आडम्बर से मुक्त करने वाला है। उसका सन्देश ईश्वर–प्रेम के साथ मानवतावाद से भी परिपूर्ण है। भाव और भाषा के धरातल पर यह काव्य सर्वजनसुलभ और संवेद्य है, इसलिए इस काल को 'स्वर्ण–काल' कहा गया है।

सगुण भक्तिकाव्य :– भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य सगुण भक्तिकाव्य ही है। सगुण भक्ति का विवेचन करते हुए हमने राम और कृष्ण की भक्ति–परम्परा का विस्तार से वर्णन किया है। उन भक्त कवियों का विवरण भी हमने दिया है, जो किसी सम्प्रदाय–विशेष से सम्बद्ध न होकर स्वतंत्र, उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करने वाला है, जहां वह भगवान् को अपने अति निकट सगुण रूप में देख सकता है। रूप, गुण, शील और सौन्दर्य की मूर्ति भगवान को अपने समीप देख पाने की लालसा भक्त की सहज इच्छा है। इस इच्छा की पूर्ति पहली बार इसी काव्य के माध्यम से हुई।

सगुण भक्तिकाव्य में मध्ययुगीन हिन्दू जनता में जिस रूप में ईश्वर–विश्वास पैदा किया, वह अद्भूत और अभूतपूर्व था। हिन्दू जाति नैराश्यपूर्ण मनोदशा में जीवित थी, उसके लिए काव्य–रूपी संजीवनी का प्रयोग इन भक्त कवियों द्वारा किया गया और वह चमत्कारी सिद्ध हुआ। अवसाद,

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृष्ठ 67 (संस्करण 2002, लोक भारती प्रकाशन)

कुण्ठा, निराशा और दैन्य भावना से मुक्त होकर हिन्दू जाति ईश्वर के सगुण अवतारी रूप में आश्रय पा सकी, यह भक्तिकाव्य की सबसे बड़ी देन कही जाएगी।

इस काल के भक्त कवियों ने लोक–मानस को आश्वस्त करने में माता–पिता, पिता–पुत्र, स्वामी–सेवक, पति–पत्नी, भाई–बहिन, राजा–प्रजा आदि पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन किया और उनको आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इस दिशा में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। लोक–मर्यादा की स्थापना के लिए इससे उत्तम ग्रन्थ न तो हिन्दी में पहले लिखा गया था और न इसके बाद लिखा गया। तुलसी के अन्य ग्रन्थ भी भक्ति प्रेम और समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उन्होंने अपने प्रकार के समन्वय पर बल देकर समाज को विश्रृंखल होने से बचाया था। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के आभ्यन्तर वैमनस्य को दूर करने का जैसा स्वस्थ एवं संयत प्रयास तुलसी ने काव्य के माध्यम से किया, वैसा हिन्दी–साहित्य के इतिहास में कभी नहीं हुआ। काव्य–रूपों की दृष्टि से भी उन्होंने अपनी प्रतिभा और मेघा का परिचय दिया। उस समय हिन्दी–कविता में जो काव्य–विधाएं प्रचलित थीं, प्रायः सभी का तुलसी ने अपनी रचनाओं में प्रयोग किया। महाकाव्य, मुक्तक, पद–शैली, दोहा–शैली, कवित्त–सवैया –शैली आदि काव्य–रूपों में जैसी सफलता तुलसी को प्राप्त हुई, वैसी किसी अन्य कवि को प्राप्त नहीं हो सकी।

इसी युग में कृष्णभक्त कवियों की विशाल परम्परा हिन्दी–साहित्य में उदित हुई। अष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्द ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा द्वारा जो काव्य–सर्जना की, वह अप्रतिम है। अष्टछाप के कवियों ने मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति को परिष्कृत करने के लिए जो भाव–सम्पदा अपने काव्य में प्रस्तुत की, वह अनेक दृष्टियों से समृद्ध और सुन्दर है। कुछ आलोचकों ने सूरदास आदि कवियों को सिद्धावस्था का कवि कहकर वह स्थान नहीं दिया है जो प्रयत्न–दशा का वर्णन करने वाले कवि तुलसी को दिया है। सूरदास की भक्ति का आधार पुष्टि अर्थात् भगवत्कृपा है। इसी कृपा के सहारे मनुष्य अपने दुःख–दैन्य से मुक्ति प्राप्त कर

सकता है। अनुग्रह और प्रपत्ति का यह मार्ग मानव का सबसे बड़ा सम्बल है। इस सम्बल को खोज निकालने का श्रेय इन्हीं कृष्णभक्त कवियों को है।[1]

वैष्णव कृष्णभक्त कवियों की एक बड़ी देन है—साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्णभक्ति का विविध रूपों में पल्लवन। इस काल में वल्लभ—सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ और इन सम्प्रदायों के शताधिक कवियों ने राधा—कृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी मनोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। इन वर्णनों में भाषा और भाव का सौन्दर्य अपने चरम् उत्कर्ष पर पहुंचा और भक्तजन को उसे पढ़कर हार्दिक परितोष हुआ।

काव्य—शिल्प की दृष्टि से भक्तिकाल का काव्य बहुत ही समृद्ध है। यह ठीक है कि भक्त होने के कारण इन कवियों की मूल प्रेरणा का स्रोत काव्यशास्त्र न होकर भक्ति—भाव ही था, किन्तु कुछ सन्त कवियों को छोड़कर राम—कृष्ण—परम्परा के सभी कवि उच्च कोटि के कवि थे। काव्यशास्त्र का उन्हें सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग भी उनकी रचनाओं में हुआ है। इन कवियों ने छन्द और अलंकार का ध्यान रीति कवियों के समान नहीं रखा, किंतु इस काव्य को छन्द—अलंकार—विहीन भी नहीं कहा जा सकता। तुलसी और सूर के काव्य में तो अप्रस्तुत—विधान का सौन्दर्य अपने पूर्ण निखार पर है। शायद ही कोई ऐसा अलंकार हो, जिसका सुष्ठू प्रयोग इन कवियों ने न किया हो। काव्य और संगीत का समन्वित सम्मिश्रण यदि कहीं अपने आकर्षक रूप में हुआ है, तो भक्तिकाल काव्य में ही। लय, स्वर, ताल, यति, गति आदि की साधना के बाद पल—शैली में जो काव्य इन कवियों ने रचना वह परवर्ती के लिए अनुकरणीय बन गया। वस्तुतः कृष्णभक्ति—काव्य भगवान् को रिझाने के लिए गेय शैली में ही लिखा गया था। संकीर्तन के लिए इन पदों का प्रतिदिन मन्दिरों में प्रयोग होता था, अतः संगीत का सन्निवेश इस काव्य में स्वाभाविक था।

काव्यशास्त्र की कसौटी पर यदि इस काल के काव्य की समीक्षा की जाये तो हम देंखेगे कि सौन्दर्य—विधायक सभी तत्व इस युग के काव्य में भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं। रस, रीति,

---

1. सं0 डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 270।

ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता के साथ किया है, वैसी सहजता के साथ रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके। रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयत्न–सापेक्ष होने से सहज नहीं रह गया है।

भक्ति–भावना को सम्प्रदाय या मत–पन्थों में असम्पृक्त रखते हुए काव्य–रचना करने वाले श्रेष्ठ कवि भी इस काल में उत्पन्न हुए। मीरा, रहीम, रसखान, सेनापति आदि कवियों का काव्य साम्प्रदायिक नहीं है; किन्तु भक्ति, ईश्वर–प्रेम और प्रकृति–प्रेम जिस उदात्त भूमि पर इनकी रचनाओं में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मीरा का कृष्ण–प्रेम अथवा कृष्ण–भक्ति समर्पित व्यक्तित्व की सुन्दरतम झांकी है। रसखान का कृष्ण और ब्रज के प्रति प्रेम हिन्दी–साहित्य में अप्रतिम है। रहीम की नीतिविषयक रचनाएं व्यवहार के स्तर पर आदर्श हैं। सेनापति का प्रकृति–वर्णन शुद्ध आलम्बन का प्रकृति–वर्णन है, जिसमें प्राकृतिक उपादान सजीव हो उठे हैं। इस प्रकार के सुन्दर और संश्लिष्ट प्रकृति–वर्णन रीतिकाल में भी उपलब्ध नहीं है।

इस प्रकार गुण और परिणाम दोनों की दृष्टि से कथ्य तथा कथन को पूर्ण उत्कर्ष प्रदान कर आनन्द और कल्याण–निःश्रेयस और अभ्युदय के समन्वय द्वारा इस युग के कवियों ने जो कीर्तिमान स्थापित किये, वे परवर्ती युगों में प्रायः दुर्लभ ही रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के हर क्षेत्र में संस्कृति समन्वय की विराट चेष्टा है।

(ग) मध्यकालीन संस्कृति के मूल तत्व :–

हिन्दू–मुसलमानों की एक गंगा–जमुनी संस्कृति **(Composit Culture)** की में पहला कदम बारहवीं शती ई0 में उठाया गया जब उत्तर भारत में तुर्कों का आगमन हुआ। इसके पूर्व अरब व्यापारी मालाबार तटीय क्षेत्र में संपर्क स्थापित कर चुके थे, किंतु इसका सांस्कृतिक प्रभाव उसी क्षेत्र तक सीमित रहा। आठवीं शती ई0 के आरंभ में अरबों ने सिंध पर विजय प्राप्त की थी किंतु वे कोई स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सके। सांस्कृतिक संश्लेषण की प्रक्रिया बारहवीं शती के उत्तरार्ध में आरंभ होकर साढ़े छः सौ वर्षों तक लगातार चलती रही जो अनेक मानव गतिविधियों

को अपने में समेटती रही, जैसे भाषाएं, साहित्य, संगीत, चित्रकारी, वास्तुकला, धर्म और सामाजिक आदान–प्रदान। साथ ही साथ मुस्लिम प्रभुत्व वाला एक मिला जुला शासक वर्ग **(Composit Governing Class)** भी विकसित हुआ, किंतु राजनीतिक गतिविधियों से प्रभावित होने के कारण यह विकास उतना नियमित नहीं रहा।[1]

सोलहवीं शती ई0 में अकबर ने जिस मुगल साम्राज्य की स्थापना की वह गैर संकीर्णतावादी विचारधारा **(Non-sectarial Ideology)** पर आधारित था। इससे भारत में मिली–जुली संस्कृति के विकास को बड़ा बल मिला। सत्रहवीं शती के अंत तक मुगल साम्राज्य के अंतर्गत समस्त भारतीय सांस्कृतिक संरक्षण दिये जाने से भी यह प्रक्रिया सुचारू रूप से चलती रही। उपर्युक्त दोनों बातों के फलस्वरूप एक मिले–जुलेशासक वर्ग का उदय हुआ जिसने पुनः सांस्कृतिक संश्लेषण का सुदृढ़ किया। अठारहवीं शती में मुगल सत्ता के पतनोन्मुख हो जाने पर भी इस मिली–जुली संस्कृति का विकास नहीं रूका। इसके विपरीत लखनऊ, मुर्शिदाबाद, हैदराबाद, पूना और बाद में मैसूर जैसे नवोदित राज्यों के अभिजन वर्गों के संरक्षण में यह और फूली–फली।

---

1. डॉ0 हरिचन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत–भाग–2, पृष्ठ 532।

भाषा और साहित्य

दसवीं शती ई0 के लगभग इस्लामी इतिहास में तुर्कों के महत्वपूर्ण होने के साथ ही फारसी सांस्कृतिक परम्परओं का पुनः प्रचलन होने लगा। अतः अब तुर्कों ने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की तो भारतीय उप महाद्वीप में भी फारसी भाषा का प्रवेश हुआ। फिर सदियों तक मुसलमानी शासन के कारण फारसी देश की राजभाषा के रूप में स्थापित हो गई। इस प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण कदम था सुल्तान सिकन्दर लोदी (1418–1517) द्वारा प्रशासन का पूर्ण रूप से फारसीकरण। इससे प्रशासकीय सेवा में सम्मिलित होने के इच्छुक हिन्दुओं के बीच फारसी का प्रचलन सुनिश्चित हो गया। जब मुगलों ने समस्त भारत पर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया तो यह प्रक्रिया और जो पकड़ गई। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम तो यह हुआ कि हिंदू भी फारसी भाषा में साहित्य की रचना करने लगे। इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं ईश्वरदास नागर की रचना फुतुहात–ए–आलमीगिरी और भीमसेन बुरहानपुरा की नुस्ख ए दिलकुश। ये दोनों रचनाएं औरंगजेब के शासनकाल का इतिहास है।

भारत में फारसी भाषा के प्रसार के साथ ही एक महत्वपूर्ण बात यह भी हुई कि यहां की उदीयमान क्षेत्रीय भाषाओं जैसे पंजाबी, कश्मीरी, सिंधी, बंगला, मराठी और हिंदी की अनेक बोलियों और फारसी के बीच आदान–प्रदान होने लगा। इस प्रक्रिया में इन भारतीय भाषाओं ने अपना मूल व्याकरण का ढांचा तो सुरक्षित रखा किंतु फारसी के अनेक शब्द और मुहावरे आत्मसात कर लिए। इस मूल समानता को ध्यान में रखते हुए आवश्यक है कि विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं और उर्दू में भेद किया जाए। उर्दू के विकास के अंतिम चरणों में इसके कतिपय विशिष्ट लक्षण दिखाई देते हैं। विशेषरूप से मराठी भाषा ने भाषा के अनेक शब्दों को जिनमें अरबी मूल के शब्द भी सम्मिलित हैं, ग्रहण किया जिनमें अधिकांश सैन्य अथवा प्रशासनिक शब्दावली के हैं, जैसे वतन, तरफ दबीर, और पेशवा। ब्रजभाषा एवं अवधी जैसे हिंदी की बोलियां ने भी फारसी शब्दावली का खुल कर प्रयोग किया, जैसा कि मलिक मुहम्मद जायसी (मृत्यु 1547 ई0) के पद्मावत, तुलसीदास (1532–1623ई0) के रामचरितमानस और कबीर (1440–1518ई0) की रचनाओं से प्रकट है। यही बात पंजाबी और कुछ सीमा तक बंगला पर भी लागू होती है। पंजाबी

पर फारसी भाषा का असर गुरू नानक और उनके उत्तराधिकारियों के भजनों एवं कथनों में देखा जा सकता है।

अपने विकास की आरंभिक अवस्था में उर्दू भी अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की भांति ही थी। तेरहवीं शती के आरंभ में दिल्ली सल्तनत की स्थापना के समय से दिल्ली में बोली जाने वाली हिंदी बोली अरबी और फारसी शब्दों को अपनाने लगी थी। इस मिश्र बोली की क्षमता का इस्तेमाल करने वाले पहले महत्वपूर्ण लेखक थे–अमीर खुसरो (मृत्यु 1325ई0)। वे इसे जबान–ए–दिल्ली कहते थे। कालांतर में इसे रेख्ता (अरबी एवं फारसी शब्दों की भरमार के कारण) या हिन्दवी और अन्ततः अठारहवीं शती के अंत तक इसे उर्दू–जिसका शाब्दिक अर्थ है खेमे की भाषा कहा जाने लगा।

जब चौदहवीं शती के उत्तरार्ध में तुर्कों की शक्ति का विस्तार दक्षिण भारत तक हो गया तो उर्दू भी अपने आरंभिक रूप में वहां पहुंची और वहां की स्थानीय भाषाओं के साथ आदान–प्रदान के फलस्वरूप इसने एक नई सी भाषा का रूप धारण कर लिया जो ''दकनी'' कहलाई। सूफी संत गंसूदराज मृत्यु (1420ई0) और गोलकुण्डा के दो शासक मुहम्मद अली कुतबशाह (1580–1612) और अब्दुला कुतब शाह (1626–72) दकनी भाषा ने हिंदवी और दकनी के बीच संपर्क को और दृढ़ किया। अठारहवीं शती के आरंभ से ही फारसी के प्रभुत्व के विरूद्ध विद्रोह के परिणाम स्वरूप दिल्ली में उर्दू को एक सम्पूर्ण साहित्यिक भाषा बनाने के विधिवत प्रयास होने लगे थे। इस आंदोलन की प्रमुख हस्तियां थीं सिराजुद्दीन अली खान आरजू (1689–1750), शाह हातिम (1699–1793), ख्वाजा मीर दर्द (1719–85), मिर्जा, मजहर जान–ए–जानान (मृत्यु 1781), मुहम्मद रफी सौदा (1713–81) और मीर तकी मीर (1722–1810)। आश्चर्य की बात तो यह है कि फारसी प्रभुत्व के विरूद्ध विद्रोह करते हुए भी ये साहित्यकार फारसी में ही शब्दावली, बिंब विद्यान (**Imagery**) और साहित्यिक विधाओं को लेकर ही विकसित हुई उर्दू को समृद्ध कर रहे थे। साथ ही साथ वे अपनी शब्दावली में से प्रचलन के योग्य ऐसे शब्दों को चुन–चुन कर निकाल रहे थे जिन्हें वे आम जनता की बोली समझते थे। इसका स्पष्ट अर्थ यह था कि अब उर्दू अन्य क्षेत्रीय भाषाओं की भांति कभी लोकप्रिय भाषा नहीं हो सकती थी। इन सब के बावजूद

उर्दू गंगा–जमुनी संस्कृति का अच्छा प्रतीक बनीं और इसके समर्थकों में हिंदू (विशेष रूप से उन्नीसवीं और बीसवीं शती में) और मुसलमान दोनों ही रहे।

अनेक मुसलमान शासकों ने संस्कृत एवं प्रांतीय भाषाओं को भी प्रोत्साहन दिया जिसमें भारतीय संस्कृति में एक समृद्ध विविधता का समावेश हुआ। संस्कृत में लिखी गई राजतरंगिणी, जो कि एक ऐतिहासिक विवरण है, कश्मीर के सुल्तान जैनुल आबिदीन (1420–1470) की आज्ञा से संकलित किया गया था। आबिदीन ने कश्मीरी भाषा के विकास को भी प्रोत्साहन दिया। उसी के शासनकाल में कश्मीरी की पहली धर्मनिरपेक्ष कविता 'बनासुरबाधा' की रचना हुई। इसी प्रकार उदयराज ने अपने संरक्षक गुजरात के सुल्तान मुहम्मद बेगड़ा (1458–1511) के शासनकाल को अमर करने के लिए संस्कृत में राजविनोद महाकाव्य की रचना की। गुजराती का प्रथम गीतिकाव्य 'बसन्तविलास' सुल्तान कुतुबुद्दीन अहमदशाह (1551–1558) के शासनकाल में रचा गया। महाभारत का पहला बंगला अनुवाद गौर के नसीरूद्दीन नुसरत शाह (1285–1519) की आज्ञा से भगवद्गीता का बंगला में अनुवाद किया और 'गणराज खान' की उपाधि प्राप्त की। गोलकुंडा के कुतुबशाही शासकों ने तेलुगू को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। इब्राहिम कुतुब शाह (1550–1580) ने तपतिसम्ब्ररनमु उपाख्यानमु के रचनाकार गंगाधर कोअपना दरबारी कवि और पल्लमेतु सामायाजी कवि का राज्य कवि बनाया था।

बादशाह अकबर बड़ा साहित्य संरक्षक था। अबुल फजल के अनुसार उसके पुस्तकालय में संस्कृत, फारसी, अरबी, यूनानी और कश्मीरी भाषाओं में लिखी गई पुस्तकें थीं। अबुल फजल का यह भी कहना है कि ''भाषाविद् हिंदी, यूनानी अरबी और फारसी पुस्तकों का अन्य भाषाओं में अनुवाद करने में लगे रहते हैं। ''संस्कृत के अन्य श्रेष्ठ ग्रंथों का फारसी में अनुवाद किया गया। इन अनूदित रचनाओं में महाभारत ('रज्मनामा' या 'युद्धों का विवरण के नाम से) रामायण, अथर्ववेद, पंचतंत्र और भास्कर का गणित शास्त्र संबंधी ग्रंथ लीलावती सम्मिलित हैं। इसी संदर्भ में फैजी द्वारा मसनवी नल–औ–दमन नाम से नल दमयंती कथा की रचना और 'अयार दानिश' के नाम से अबुल फजल द्वारा कालियदमन का अनुवाद भी उल्लेखनीय है।

अकबर के उत्तराधिकारी भी भारतीय साहित्य के संरक्षक बने रहे। जहांगीर (1605–1627) ने चित्रमीमांसाखंडन (अलंकार शास्त्र पर ग्रंथ) एवं आसफ विजय (नूरजहां के भाई आसफ खां की स्तुति) के रचयिता जगन्नाथ को ''पंडितराज'' की उपाधि से सम्मानित किया था। वंशीधर मिश्र और हरिनारायण मिश्र शाहजहां (1628–58) के दरबार के संस्कृत कवि थे। शाहजहां को अनेक रचनाएं समर्पित की गईं, जिसमें प्रमुख हैं, मुनिश्वरदास द्वारा रचित सिद्धान्त सर्वभौम और भगवती स्वामी की काव्यवृत्तबोध। औरंगजेब के शासनकाल (1658–1707) में रचे जाने वाले संस्कृत ग्रंथ हैं, रघुनाथ रचित मुहुर्तमाला जो कि मुहुर्त संबंधी ग्रंथ है, और चतुर्भुज का 'रसकल्पद्रुम' जो औरंगजेब के चाचा शाइस्ता खान को समर्पित है।

हिन्दू–मुसलमानों की मिली–जुली संस्कृति का जैसा स्पष्ट विकास भारतीय संगीत के क्षेत्र में देखने को मिलता है वैसे अन्यत्र नहीं। अमीर खुसरो को भारतीय संगीत में अनेक फारसी एवं अरबी तत्वों के समावेश का श्रेय दिया जाता है, जिनमें क्वाल (जिसे कव्वाली का मूल भी माना जाता है) और तराना जैसे गायिकी के नए रूप सम्मिलित हैं। इस समय से लेकर मुगल काल के समय तक भारतीय राजाओं के दरबार में भारतीय संगीत के साथ–साथ विदेशी संगीत, विशेष रूप से ईरानी संगीत सुना जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय संगीत में परिवर्तन तो हुआ किंतु स्वरूप बना रहा।

कट्टरपंथियों के विरोध के बावजूद मुस्लिम शासन के अंतर्गत भारतीय संगीत फला–फूला। अनेक शासकों ने संगीत को प्रोत्साहन दिया जिनमें से कुछ तो संगीत संरक्षक होने के साथ–साथ स्वयं ही गुणी कलाकार भी थे। कहा जाता है कि सुल्तान मुहम्मद शाह तुगलक (1324–51ई0) सेवा में 1200 संगीतकार रहते थे और जो 1000 गुलाम संगीतकारों के अतिरिक्त थे। कश्मीर के सुल्तान जैन–उल– आबिदीन ने संगीत शास्त्र पर एक ग्रंथ लिखे जाने की आज्ञा दी थी, जो आज उपलब्ध नहीं है, सुल्तान हुसैनशाह शर्की (1458–1528), जो मूलतः जौनपुर का था, स्वयं का एक महान कलाकार था और संगीत के क्षेत्र में आविष्कर्ता के रूप से खुसरो के बाद उसी का स्थान आता है। संगीत में उसकी महत्वपूर्ण देन ''ख्याल'' की गायकी है। अपनी पारंपरिक धार्मिक आस्था के बावजूद सुल्तान सिकंदर लोदी संगीत में अच्छी रूचि रखता था। उसी के संरक्षण में 'लहजत–ए–सिकन्दर शाही' की रचना हुई जो कदाचित भारतीय

संगीत पर पहला फारसी ग्रंथ है। यह संस्कृत ग्रंथों पर आधारित है और इसका स्वरूप पारंपरिक है। इसी दिशा में हिंदी का एक अधिक प्रगतिशील ग्रंथ है मान कौतुहल जिसका संकलन ग्वालियर के राजा मानसिंह (1486–1516) के दरबारी संगीतकारों ने किया था। इस ग्रंथ में उन सभी आविष्कारों का विवरण मिलता है जो अमीर खुसरो के जमाने से भारतीय संगीत के क्षेत्र में होते आए थे।

मुगल सम्राटों, अकबर, जहांगीर और शाहजहां के काल में संगीत संरक्षण अपने चरम पर था। दरबारी संगीतकारों के अतिरिक्त बड़े–बड़े नौबत भी बने जिनमें वात एवं तालवाद्य होते थे। ये नौबत प्रायः नियमित अंतराल से नक्कारखानों या नौबतखानों में बजते रहते थे जो प्रायः महलों और मंदिरों के प्रवेश द्वारा पर स्थित होते थे। अकबर के संगीत संरक्षण के संबंध में अबुल फजल लिखता है : ''पादशाह सलामत संगीत की ओर बड़ा ध्यान देते हैं और उन सब लोगों को संरक्षण प्रदान करते हैं जो मोहक का अभ्यास करते हैं। उनके दरबार में अनेक संगीतकार थे जिनमें हिन्दू, ईरानी, सूरानी, कश्मीरी, स्त्री और पुरूष कलाकार थे।''

अबुल फजल अकबर के दरबार के छत्तीस प्रमुख संगीतकारों की तालिका देता है। साथ में उनकी विशेषज्ञता के क्षेत्रों का भी उल्लेख है। इनमें हिंदू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित हैं। ग्वालियर के मियां तानसेन को वह इनमेंअग्रणी मानता है और उसका वर्णन इस प्रकार करता है : ''पिछले एक हजार सालों में भारत में उसके जैसा गायक नहीं हुआ है।'' इस तालिका में मालवा का भूतपूर्व शासक बहादुरशाह भी सम्मिलित है। अबुल फजल की तालिका में अनेक वाद्य–यंत्रों का भी उल्लेख है, जिनमें प्रमुख हैं बीन, तंबूरा, सरमंडल, रबाब और ने (बांसुरी)।

सत्रहवीं शती के आरंभ में दक्षिण में बीजापुर के सुल्तान इब्राहिम आदिलशाह द्वितीय के संरक्षण में दक्षिण में संगीत फूला–फला। आदिलशाह स्वयं भी प्रसिद्ध कवि था। उसकी कविताएं किताब–ए–नौरस शीर्षक से संकलित है जो विभिन्न रागों में गाई जाने के उद्देश्य से रची गई थीं। तथापि, इन्हें 'मकाम' कहा गया है जो भारतीय एवं अरबी संगीत धाराओं के साम्य को दर्शाता है।

औरंगजेब के शासनकाल में संगीत का विकास थोड़े समय के लिए अवरूद्ध रहा जिसका कारण औरंगजेब की धार्मिक कट्टरता बताया जाता है। ऐसा भी कहा जाता है–संगीत को संरक्षण न देने पर भी औरंगजेब संगीत में रूचि रखता था और इसके सिद्धांत पक्ष को अच्छी तरह समझता था। बहादुरशाह (1707–1712) और विशेष रूप से मुहम्मदशाह (1719–48) के समय में संगीत का पुनरूद्धार हुआ। मुहम्मदशाह स्वयं भी प्रसिद्ध गायक था और उसने अनेक 'ख्याल' रचे जिनमें से कुछ आज भी प्रचलित हैं। मुहम्मदशाह के संरक्षण में सत्रहवीं शती के एक महत्वपूर्ण संगीत संबंधी ग्रंथ ''संगीत परिजात'' का संस्कृत से फारसी में अनुवाद हुआ। मुगल साम्राज्य का पतन हो जाने पर संगीत आंचलिक राज्यों के दरबारों में परवरिश पाता रहा, हालांकि इतने शानदार स्तर पर नहीं। उन्नीसवीं शती के आरंभ में जयपुर के महाराजा प्रताप सिंह के दरबारी संगीतकारों ने संगीतसार नामक एक संगीत ग्रंथ का संकलन किया। 1813 ई0 में पटना के एक सामंत मुहम्मद रिजा ने नगमात–ए–असाफी की रचना की जिसे उत्तर भारत में आधुनिक भारतीय संगीत का अग्रदूत माना जाता है।

वास्तुकला

उत्तर भारत में तुर्कों के आगमन से पहले हिंदू वास्तुकला की शैलियों और विधियों की लंबी परम्परा विकसित हो चुकी थी। बारहवीं–शती के अंत तक जो नए तुर्क विजेता भारत में आए, भवनों के प्रकार एवं निर्माण–संबंधी उनके अपने ही विचार थे। किंतु इस्लामिक वास्तुकला में प्रशिक्षित कारीगरों के अभाव में उन्हें हिन्दू वास्तुकला में प्रशिक्षित कारीगरों से ही काम चलाना पड़ा। अतः मुसलमानी शासन के आरंभिक काल में निर्मित–भवनों में हिंदू वास्तुकला का पर्याप्त प्रभाव देखने को मिलता है। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे नकारा नहीं जा सकता। कालांतर में यहां के वास्तुशिल्प भी मुसलमानी वास्तुकला की विधियों, जैसे कि मेहराब और गुंबद बनाने की कला में माहिर हो गए। साथ कतिपय मुसलमान शासकों एवं अभिजनों का सामान्य प्रयास रहा कि उनके भवनों में हिंदू, बौद्ध और जैन वास्तु शिल्प का भी समावेश रहे ताकि भारतीय वास्तुकला केवल संकीर्ण रूप से इस्लामिक कला होकर ही न रह जाए। इस्लामी वास्तुकला में भारतीय वास्तुकला के समावेश की मात्रा विभिन्न संरक्षकों के हिसाब से विभिन्न रही। कुल मिलाकर मिली–जुली हिन्दू–मुस्लिम वास्तुकला की यह प्रवृत्ति विकसित होती रही है, हां इसका अनुपात सब जगह एक सा नहीं रहा।

तुर्की द्वारा भारत में पहले पहल निर्मित भवनों में हिंदू प्रभाव दिखाई देता है, उदाहरण के लिए इल्तुतमिश (1210–36ई0) का अढ़ाई दिन का झोंपड़ा, जिसकी मेहराबें ''सच्ची'' शैली (अर्थात फैली हुई चाप वाली) में न होकर एक दूसरे पर झुके हुए शिला खंडों वाली हिंदू शैली में निर्मित है। दिल्ली सल्तनत के काल में मुसलमानी भवनों में हिंदू वास्तुकला के जिन महत्वपूर्ण लक्षणें का समावेश हुआ उनमें प्रमुख हैं गुंबद पर कलश का जोड़ा जाना, जैसा कि सुलतान गयासुद्दीन तुगलक (1320–24ई0) के मकबरे पर देखा जा सकता है, छज्जा, जिसका प्रयोग पहली बार खान–ए–जहां तिलंगानी के मकबरे पर देखा गया, और स्तंभों एवं पेविलियन वाली छत्ती, जिसका प्रयोग पहली बार सुल्तान मुबारक शाह सैयद (1434)के मकबरे पर किया गया।

हिंदू विचारों का प्रभाव सबसे अधिक स्पष्ट रूप से गुजरात सल्तनत (1411–1572) की भवननिर्माण कला पर देखा जा सकता है। अहमदाबाद एवं खंबात (कैम्बे) की जामा मस्जिदों पर, चंपानेर की बड़ी मस्जिद और ढोल्का की हिलाल खान मस्जिद पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इन मस्जिदों की शैली हिंदू और जैन मंदिरों से बहुत मिलती–जुलती है। हिंदू–मुसलमान वास्तुकला के कतिपय महत्वपूर्ण उदाहरण दक्षिण में देखने को मिलते हैं। सुल्तान फिरोज शाह बहमनी (1422 ई0) और गुलवर्गा में स्थित सूफी संत गेसूदराज के मकबरों पर झुकी हुई पत्थर की मेहराबें ईरानी प्रभाव दर्शाती हैं। हिंदू शैली के पक्ष और चाप–स्कंदों का मेल किया गया है। गोलकुंडा में सुल्तान अब्दुल्ला कुतुबशाह द्वारा निर्मित नए किले में इस्लामी मेहराब के साथ शुद्ध हिंदू आकृतियों जैसे हंस, तोता, सिंह शावक, मोर इत्यादि का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार सुल्तान अली आदिलशाह प्रथम (1558–80) द्वारा बीजापुर में निर्मित जामा मस्जिद के किनारे–किनारे पीपल के पेड़ों का घना झुंड उकेरा गया है। पीपल का पेड़ हिंदू प्रतीक है।

सम्राट अकबर द्वारा निर्मित भवनों में इस्लामिक हिंदू, बौद्ध और जैन, अनेक वास्तुशैलियों का समावेश हुआ है। आगरा के किले के जहांगीरी महल में मुसलमानीऔर हिंदू वास्तुशैलियों का संश्लेष स्पष्ट दिखाई देता है। इस भवन के बाहरी हिस्से में मेहराबों और मेहराबदार आलों की भरमार है जो जो फारसी शैली के हैं, और इसके भीतरी भाग का अलंकरण शुद्ध हिंदू शैली में किया गया है। फतेहपुर सीकरी की अनेक इमारतों के अलंकरण में भी हिंदू शैली की प्रेरणा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है, विशेष रूप से जोधाबाई के महल मरियम सुल्ताना एवं राजा बीरबल के आवास गृहों, दीवान–ए–खास और शेख सलीम चिश्ती की दरगाह में। पंचमहल की पिरामिड जैसी संरचना एवं सिकंदरा स्थित स्वयं अकबर के मकबरे में बौद्ध वास्तुशिल्प का प्रभाव झलकता है। (अकबर के मकबरे का निर्माण उसके उत्तराधिकारी जहांगीर ने पूरा किया था) इसके भीतरी भाग के अलंकरण में मुसलमानी, हिंदू और इसाई प्रभाव देखनेको मिलता है। यहां ईश्वर के निन्यानवे नामों के साथ–साथ ''अल्लाह अकबर'' और जला जलालुहू के साथ ही हिंदू स्वास्तिक एवं मसीही क्रास भी अंकित है जो अकबर के सकलवादी धार्मिक दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।

अकबर की मृत्यु (1605 ई0) के पश्चात् मुगलों ने जिन भवनों का निर्माण कराया उनमें से किसी–किसी में और वह भी अलंकरण में ही थोड़ा बहुत हिंदू प्रभाव दिखाई देता है, अन्यथा

कुल मिलाकर इनमें अकबर द्वारा बनवाई गई इमारतों की तुलना में इस्लामी–करण ही अधिक दिखाई देता है। उदाहरण के लिए नूरजहां द्वारा बनाए गए (1627–28ई0) ऐतिमाद्–उद्दौला के मकबरे में फारसी मेहराबों और मेहराबदार आलों के साथ हिंदू कलश और छतरियों का भी प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार शाहजहां के समय में बनाए जाने वाले भवनों में संगमरमर में बंगाली छप्पर का प्रभाव उत्न्न किया गया जो किनारों से झुका हुआ होता है। शाहजहां के समय में ही नौ शिखरों वाले पर्णालाकृत मेहराब (**Poliated Arch**) का समावेश हुआ जिनमें से प्रत्येक शिखर (**Cusp**) को अपने आप में एक छोटी मेहराब कहा जा सकता है। यह शैली हिंदू मंदिरों का प्रभाव दर्शाती है जिसमें शिखर का छोटा रूप स्वयं शिखर के मुख्य बाह्य अलंकरण का भाग होता है। कुल मिलाकर, आगरा, दिल्ली और लाहौर में शाहजहां द्वारा निर्मित भवनों में हिंदू और इस्लामिक वास्तुकला के सुंदर समन्वय के दर्शन होते हैं। फिर भी, इनका मुख्य स्वरूप इस्लामिक ही रहा, भले ही वे ताजमहल हो या दिल्ली और आगरा की जामा मस्जिदें। औरंगजेब के समय से भवनों का इस्लामिक स्वरूप अधिक दृढ़ होकर उभरा किंतु यहां भी कहीं– कहीं हिंदू शैली आ गई है जैसाकि लालकिले दिल्ली की मोती मस्जिद (1642ई0) के लंबे शिखरों और झुके हुए कोनों से ज्ञात होता है। आमेर के किले में कछवाहा राजपूत शासकों द्वारा निर्मित दीवान–ए–आम और जयमंदिर राजपूत–मुगल वास्तु शैली के सर्वोत्तम उदाहरण हैं। बुंदेला सरदार बीर सिंह देव (1605–26) द्वारा ओरछा और दतिया में निर्मित दो महलों की वास्तुशैली भी उल्लेखनीय है जिसके समग्र हिंदू प्रभाव को छोटी–बड़ी मेहराबों द्वारा संतुलित किया गया है। दक्षिण भारत के मदुरै में तिरूमल नायक के महल (1645) में विशाल प्रस्तर स्तंभों, शिखरयुक्त मेहराबों, पार्श्व की गैलरियों और गचकारी (**Stucco**) अलंकरण में हिंदू मुग़ल और यहां तक कि ब्रिटिश वास्तुकला का मिलाजुला प्रभाव देखा जा सकता है। मराठा वास्तुकला में इस्लामिक वास्तुकला की विशेषताओं को अपनाया गया है जैसे कि गुम्बद, मीनार और तीन ओर से खुले बरामदे। यह शैली मंदिरों के निर्माण में प्रयुक्त हुई हैं और जेजुरी का खांडोवा मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। इन्हीं विशेषताओं को कतपय समाधियों के निर्माण में भी प्रयुक्त किया गया है। जैसे कि संभाजी जाधव की समाधि में। अठारहवीं शती के अंत तक मुग़लों के अनुकरण पर मराठे भी भवनों के साथ बगीचा लगाने लगे थे जिनमें पगडंडियां, नहरें और फव्वारे होते थे।

अठारहवीं शती पंजाब की सिख वास्तुकलाओं और हिंदू–मुसलमान शैलियों के समन्वय का एक और उदाहरण है, जैसे अमृतसर का स्वर्ण मंदिर (1764ई0) जिसमें छतरियों, मेहराबदार आलों के साथ सभी अलंकृत गुंबदों एवं शिखरयुक्त मेहराबों का प्रयोग हुआ है।

चित्रकला

चित्रकला की हिंदू और फारसी शैलियों के बीच आरंभिक आदान–प्रदान के अवशेष गुजरात में मिलते हैं। यहां मुगलकाल से पूर्व के सूक्ष्म चित्र मिलते हैं जिनका प्रयोग कल्पसूत्र और कालिकाचार्य कथा जैसे जैन धर्म ग्रंथों के चित्रण में किया गया है। सूक्ष्म चित्रकारी का प्रयोग बंसल विलास जैसे धर्मनिरपेक्ष ग्रंथों को साज्जित करने के लिए भी हुआ है। यह भी इस बात का प्रमाण है कि उस काल तक हिंदू और फारसी शैलियों में आदान–प्रदान आरंभ हो चुका था।

अकबर के कला संरक्षण में हिंदू और फारसी शैलियों की एक मिली–जुली कलम का विकास हुआ। इस संबंध में अबुल फजल का कहना है ''अपनी युवावस्था से ही पादशाह सलामत का इस कला के प्रति रूझान रहा है और वे इसे पूरा प्रोत्साहन देते हैं''। अतः यह कला फली–फूली है और अनेक चित्रकारों ने बड़ा नाम कमाया है। प्रत्येक सप्ताह दारोगा और बाबू लोग पादशाह सलामत के सामने सभी चित्रकारों के चित्र पेश करते हैं, वे चित्रों की कलाकारी की श्रेष्ठता के अनुरूप उन्हें पारितोषिक प्रदान करते हैं या उनका मासिक वेतन बढ़ाते हैं।

अबुल फजल अकबर के दरबार के अनेक चित्रकारों का उल्लेख करता है, जिनमें दशवंत अग्रणी था और जिसे अबुल फजल उस युग का सर्वश्रेष्ठ चित्रकार मानता है। अकबर की निगरानी में अनेक हिंदू गैर हिंदू विषयों से संबद्ध ग्रंथों की चित्रसज्जा की गई है जिनमें प्रमुख है.......हम्जानमा, चंगेजनामा, जफरनामां, रज्मनामा (अर्थात महाभारत) रामायण और नलमन। अकबर के संरक्षण में पनपने वाली एक अन्य कला थी भित्तचित्रकारी (**Fresco Painting**)। फतेहपुर सीकरी के कतपय भवनों के भित्तिचित्रों में पारंपरिक विषयों के अतिरिक्त बौद्ध और मसीही विषय भी देखने को मिलते हैं जो अकबर के सकलवादी धार्मिक दृष्टिकोण का परिचायक है।

देशी और विदेशी मिश्रशैलियों से बनी मुग़ल कलम जहांगीर के शासनकाल में अपने चरमोत्कर्ष पर थी। अपने संस्मरण तुजुक–ए–जहांगीरी में वह लिखता है :

''चित्रकला से मुझे इतना प्रेम है और चित्रों का मूल्यांकन करने का मुझे इतना अभ्यास हो गया है कि जब कोई चित्रकृति मेरे सामने लाई जाती है तो देखते ही बता सकता हूं कि वह किस चित्रकार की रचना है। और यदि मेरे सामने ऐसी तस्वीर लाई जाए जिसमें अनेक चित्रकारों ने काम किया हो तो मैं उसमें मे प्रत्येक चित्र को देखकर बता सकता हूं कि कौन सा चित्र किस चित्रकार ने बनाया है। यदि किसी चित्रित चेहरे पर आंखें और भौहें किसी अन्य चित्रकार ने बनाई हों तो भी मैं बता सकता हूं कि मूलचित्र किसका है और उस पर आंखे और भौहें किसने चित्रित की हैं।''

जहांगीर के समय तक ग्रंथों की सूक्ष्म चित्रकारी से सज्जित करने की कला (**Manuscript Illustration**) का स्थान धीरे–धीरे छवि चित्र (**Portrait**) बनाने की कला लेने लगी थी और वही मुग़ल कला की पहचान मानी जाने लगी थी। यूरोपीय कला के प्रभाव ने मुग़ल कला को और समृद्ध किया। मुगल कला में परिप्रेक्ष्य का बढ़ता हुआ प्रयोग, सम्राटों और राजकुमारों के सिरों के आस–पास प्रकाश पुंज का चित्रण और माता मरियम एवं बालक यीशु मसीह विषयों के चित्रण में यूरोपीय प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। छवि चित्र बनाने की कला शाहजहां और औरंगजेब के शासनकाल में भी फलती–फूलती रही। सत्रहवीं शती के अंत में दक्षिण में मुग़लों के प्रवेश के साथ वहां चित्रकला की मुग़ल अथवा शाही शैली का एक आंचलिक रूप विकसित हुआ जिसे दकमी कलम कहा जाता है।

राजपूतों की चित्रकला की अपनी शैली थी जिसे राजस्थानी कलम कहा जाता है और यह मुग़लों से भी पुरानी है। किंतु जब सोलहवीं शती के उत्तरार्ध में राजपूतों का मुगलों से सक्रिय आदान–प्रदान हुआ तो राजस्थानी कलम भी मुगल कला के प्रभाव से अछूती न रह सकी। किंतु यह प्रभाव शैली तक ही सीमित रहा। विषयवस्तु को इसने प्रभावित नहीं किया। मुग़ल चित्रकला के विषय या तो अभिजनों से संबंधित होते थे या धर्मनिरपेक्ष होते थे, जबकि

राजपूत कलम में राजाओं एवं अभिजनों को चित्रित तो किया जाता था किंतु लोकप्रिय और धार्मिक विषयों पर ही अधिक बल दिया जाता था।

अठारहवीं शती में जब चित्रकारों को मुग़ल और राजपूती संरक्षण मिलना कम हो गया तो पश्चिमी और मध्य हिमालय की तलहटी में भारतीय चित्रकला के नए केंद्र उभरे क्योंकि अनेक चित्रकार यहां आकर बस गए थे। गुलेर, बसोली, चम्बा, जम्बू और कांगड़ा के सरदारों के दरबारों में रहने वाले चित्रकारों की कृतियां ही तथाकथित पहाड़ी कलम कहलाती है।

धर्म

धर्म के क्षेत्र में कुछ सीमा तक पारम्परिक आदान–प्रदान एवं संश्लेषण हुआ किंतु यह लोक–आस्थाओं और सामाजिक व्यवहार तक ही सीमित रहा। दूसरी और शुद्धतः बुद्धिवादी स्तर पर संश्लेषण के सभी प्रयास छिटपुट और सतही रहे, पारंपरिक हिंदू धर्म और पारंपरिक इस्लाम संपूर्ण मध्य युग में एक दूसरे से अलग– थलग ही रहे।

सोलहवीं शती में अकबर पादशाह ने मुग़लों की सुदृढ़ दृष्टि से उदारवादी विचारधारा अपनाई जिसके मूल में सभी धर्मों एवं जातीय समूहों के बीच सामान्य शांति (सुलह–ए–कुल) का सिद्धांत था। उसकी अपनी वैयक्तिक धार्मिक धारणा भी इसी दिशा में प्रेरित थीं जिसकी चरम परिणति उसकी निजी धार्मिक आस्था में हुई जिसे वह तौहीद–ए–इलाही कहता था।

धार्मिक संश्लेषण का ऐसा ही अन्य प्रयास मुगल शहजादा दारा शिकोह (मृत्यु 1659ई0) ने भी किया। स्वयं तो दारा शिकोह सूफियों की कादिरी शाखा से संबद्ध था किंतु उसकी रूचि सूफीमत से परे संस्कृत, हिंदू पुराणों एवं रहस्यवाद के साथ ही मसीही मत के भक्ति गीतों, उपदेशों और इंजिल के अध्ययन में भी थी। उसकी रचनाओं में प्रमुख है मजमा–ए–अल–बहरायन (दो महासागरों का मिलन), जो हिंदू धर्म एवं सूफीमत की तकनीकी शब्दावली का तुलनात्मक अध्ययन है। उसी ने भगवद्गीता और योगवशिष्ट का और सीर–ए–अकबर (महान रहस्य) नाम से बावन उपनिषदों का फारसी में अनुवाद करवाया था। संभव था कि अवसर मिलने पर दारा शिकोह अकबर की तुलना में कहीं गंभीर और स्थायी धार्मिक संश्लेषण को साकार करता। किंतु

शाहजहां के पुत्रों के बीच गद्दी के लिए मचने वाली जंग में दाराशिकोह की मृत्यु ने इस संभावना को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

मध्ययुग के कतिपय सूफी संतों ने हिंदू विचारों एवं व्यवहारों, विशेषतः युग में रूचि दिखलाई। किंतु इसने भी किसी ठोस बौद्धिक संवाद या धार्मिक संश्लेषण को जन्म नहीं दिया। हिंदू धर्म के जिन तत्वों को वे ग्रहण करते थे वे अत्यंत चुनिंदा होते थे और उसमें भी बड़ी काट–छांट होती थी क्योंकि कट्टर इस्लामिक व्यवस्था के अंतर्गत उन्हें अधिक स्वतंत्रता नहीं थी। सूफियों के चिश्ती साबिरी शाखा का शेख अब्दुल कुदुस गंगोही (मृत्यु 1538) नाथ योगियों के सर्वेश्वरवादी विचारों (**Patheistic Ideas**) को मानते थे। उनकी सर्वेश्वरवादी रचना रश्दनामा में ''अलख'' उपनाम से उनकी हिंदी कविताएं संकलित हैं। एक कविता में ईश्वरी (खुदा) और निरंजन को एक दर्शाया गया है। इसके बावजूद सुल्तान सिकंदर लोदी और बाबर पादशाह को लिखे गए उनके पत्रों से स्पष्ट है कि वे भी भारत में शरीया की स्थापना चाहते थे।

भारत में योग को सीधे अपनाने वाली एकमात्र महत्वपूर्ण सूफी शाखा थी शत्तारी सिसिला। शत्तारी वनों में योगियों की भांति फल–फूल खाकर रहते थे और कठोर शारीरिक एवं आध्यात्मिक साधनाएं करते थे। शारीरिक साधना के अंतर्गत विशिष्ट यौगिक आसन करने होते थे। इस पंथ के सबसे महत्वपूर्ण प्रतिनिधि थे ग्वालियर के शेख मुहम्मद गौस (मृत्यु 1563 ई0) जिन्होंने हठयोग के एक संस्कृत ग्रंथ अमृतकुंड का नए सिरे से अनुवाद किया और उसे बहर–उल–हयात नाम दिया। एक अन्य सूफी पंथ मदारी ने भी अपने यौगिक व्यवहारों को अपनाया। मदारी अपने शरीद पर भस्म लपेटते थे, लंबे बाल रखते थे और भांग के आदी होते थे। जिस प्रकार सूफियों ने हिंदू विचारों और व्यवहारों को किसी सीमा तक अपना कर भी इस्लाम के प्रति अपनी मूल आस्था नहीं छोड़ी, उसी प्रकार कुछ हिंदू पंथों ने मूल रूप से हिंदू रहते हुए भी इस्लाम की कतिपय बातों को ग्रहण कर लिया। लेकिन बौद्धिक अर्थ में इस संपर्क का स्वरूप भी सतही था।

इसका सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण कबीरपंथियों में मिलता है जो कबीर (मृत्यु लगभ 1518ई0) के अनुयायी थे। कबीर ने हिंदू और मुसलमान जनसामान्य को मिलाने के लिए

सकलवाद का जो आधार प्रस्तुत किया वह सामान्य होने के कारण मूलतः हिंदू धर्म के अंतर्गत ही आता है। उनके लिए राम ही ईश्वर का नाम था। मुसलमानी परंपरा कबीर को एक चिश्ती सूफी शेख तकी का शिष्य मानती है किंतु हिंदू परंपरा के अनुसार ये दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वंदी थे। कबीर ने हिंदी कविता के माध्यम से हिंदू–मुस्लिम एकता स्थापित करने का प्रयास किया। उनकी कविता में अनुप्रास की आकर्षक छटा है, जैसे कृष्ण–करीम, हरि–हजरत, और मुहम्मद–महादेव आदि। उन्होंने अपनी कविता में अन्य अरबी–फारसी के शब्दों का भी प्रयोग किया है। यथा बिस्मिल्लाह के लिए बिस्मिल (ईश्वर के नाम पर) और बहिश्त (स्वर्ग) के लिए भिश्त शब्द प्रयुक्त किए हैं। कबीर ने मुल्ला–अजान, मूर्तिपूजा, पशु बलि और जाति प्रथा की समान रूप से निंदा की है। उनके 'बीजक' में संकलित उनकी कविताओं से स्पष्ट है कि उन्हें हिंदू चिंतन, ग्रंथों और रीति–रिवाजों का अंतरंग ज्ञान था जबकि मुस्लिम आस्थाओं के संबंध में उनका ज्ञान सतही था। कबीरपंथी हिंदू और मुसलमान में बंटे हुए हैं और कबीर के प्रति श्रद्धा के अतिरिक्त उनमें कोई अन्य समानता दिखाई नहीं देती।

भक्तिकाल के हिंदी कवियों में दादू दयाल (1544–1603) सूफियों के सबसे अधिक निकट हैं। वे सूफियों की संगत में रहते थे और ईश्वर के प्रकाश (नूर) संबंधी सुहरावर्दियों की संकल्पना से विशेष रूप से प्रभावित थे जिसका भक्ति में लीन हो जाने के संदर्भ में उल्लेख उनकी रचनाओं में बार–बार मिलता है। दादू दयाल को किसी भी अन्य भक्त कवि की तुलना में इस्लाम का अधिक ज्ञान था। हिंदी, गुजराती और मराठी रचनाओं के अतिरिक्त कतिपय फारसी कविताएं भी उनकी बताई जाती हैं। समन्वयवाद उनके काव्य की विशेषता है। उदाहरण के लिए उनका कहना है : ''दोनों भाईयों हिंदू और मुसलमान के एक से हाथ और पैर हैं, दोनों के कान और आंखे हैं।'' कबीर की भांति दादू भी हिन्दुओं और मुसलमानों

दोनों के ही धर्म ग्रंथों को प्रामाणिकता अस्वीकार करते हैं और पुरोहित, मुल्ला तंत्र की भर्त्सना करते हैं और कबीर की ही भांति वे भी निर्गुण राम के रूप में ही ईश्वर को देखते हैं।

अनेक अर्थों में नानक (1469–1539) के उपदेश कबीर से मिलते–जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कबीर की भांति नानक भी इस्लाम के एकेश्वरवाद और समतावाद से प्रभावित थे। कबीर की ही भांति वे भी उस परम के लिए मिश्रित हिंदू मुसलमानों शब्दावली का प्रयोग करते हैं जैसे हरि, राम, अल्ला, खुदा और साहिब। नानक ने जिस सिख पंथ की स्थापना की उसका मौलिक स्वरूप पर्याप्त सकलवादी था, किंतु सत्रहवीं और अठारहवीं शती में यह मुग़ल–विरोधी आंदोलन के रूप में विकसित हुआ जिससे इसका स्वरूप अधिकाधिक रूप से कट्टर हिंदू होता गया। इसी प्रकार महाराष्ट्र के कतिपय भक्त कवियों के उपदेशों में भी इस्लाम के साथ बौद्धिक तुलना में भावनात्मक आदान–प्रदान ही अधिक मिलता है। चौदहवीं शती के संत नामदेव ने हिंदू और मुसलमानों की समान रूप से आलोचना की है, ''हिंदू अंधा है तो मुसलमान काना। जानने वाला दोनों से अधिक बुद्धिमान है। वह (नामदेव) तो उस नाम का सेवक है जिसका न कोई मंदिर है, न मस्जिद।'' इसके बावजूद नामदेव के हिंदू संस्कार इस बात से प्रकट हैं कि मूलतः वे हिंदू देवता विठोबा के उपासक हैं। सबसे प्रभावशाली मराठा संत तुकाराम (जन्म 1608 ई0) के भजनों में यदा–कदा सूफी शब्दावली का प्रयोग मिलता है।

कुछ ऐसे मूलतः हिंदू पंथ भी थे जिन्होंने उपर्युक्त आंदोलनों की तुलना में हिंदू और इस्लाम के तत्वों को मिलाने का कहीं अधिक प्रयास किया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हुसैनी ब्राह्मणों में मिलता है, जो शिया शहीद हुसैन को मानते थे किंतु वे चिश्ती सूफी, ख्वाजा मुइनुद्दीन चिश्ती को भी देवता मानते थे। वे मुहम्मद को अवतार मानते थे, मुसलमानों की भांति रमजान के महीने में रोज़े रखते थे और अपने मृतकों को दफनाते थे। वे केवल मुसलमानों से ही दान लेते थे। साथ ही वे अपने भाल पर बाह्य धर्म के जातिसूचक चिह्न भी धारण करते थे। ऐसा

ही एक अन्य दृष्टांत रामसांचियों का है जो रामचरण के अनुयायी थे, जो मुसलमानों की भांति दिन में पांच बार नमाज़ पढ़ते थे और जातिप्रथा की भर्त्सना करते थे। किंतु कहना पड़ता है कि यह समन्वयवाद हिंदू धर्म इस्लाम के बीच किसी ठोस बौद्धिक संश्लेषण पर आधारित नहीं था और इसका प्रभाव भी सीमित था।

लोक संस्कृति (**Popular Culture**) एवं सामाजिक व्यवहार के क्षेत्र में ही हिंदू–मुसलमानों के बीच विस्तृत और स्थायी आदान–प्रदान संभव हो सका। अनेक सूफी संत हिंदू और मुसलमानों में समान रूप से पूजनीय हुए और आज भी 'उर्स' में हिंदू–मुसलमान मिलकर भाग लेते हैं। सूफ़ियों के अतिरिक्त अनेक ऐसे अज्ञात धार्मिक मूल के स्थानीय देवी–देवता और संत भी हुए जिनकी हिंदू और मुसलमान दोनों ही पूजा करते रहे हैं–उदाहरण के लिए 'परि झारियां (वनों का संत) जिनकी पूजा सिंध में की जाती है, गुजरात में पूज्य सलार मसूद गाज़ी, लाल शहबाज, जो मूलतः वाममार्गी (**Heterodox**) कलंदर थे, किंतु जिन्हें सिंध के कुछ हिंदू विष्णु का अवतार मानते हैं और बंगाल के कसाईयों के संरक्षक संत जिन्हें मुसलमान गाज़ी मियां और हिंदू सत्यवीर के नाम से पूजते हैं। इसी प्रकार बंगाल के कुछ मुसलमान हिंदुओं की ही भांति शीतलामाता की पूजा करते हैं।

लोकप्रिय उत्सवों एवं संस्कारों के स्तर पर भी किसी सीमा तक हिंदू–मुस्लिम संवाद बना। मुहम्मद शाह तुगलत (मृ0 1351ई0) और अकबर जैसे मुस्लिम शासकों ने होली, दशहरा, दीपावली जैसे हिंदू त्यौहारों में भाग लेकर इसका उदाहरण प्रस्तुत किया। बंगाल और अवध के नवाब धूमधाम से जन्माष्टमी मनाते थे। गोलकुंडा के कुतुबशाही शासकों के काल में अनेक हिंदू मुहर्रम में हिस्सा लेते थे और इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि कुछ तो मुहर्रम के दौरान जन्म लेने वालों बच्चों का नाम ही शिया शहीद इमाम हुसैन के नाम पर रख देते थे।

अविभाजित बंगाल में मुसलमानों की दावतों में हिंदू भी शरीक होते थे और ग्रामीण क्षेत्रों में मुसलमान हिंदुओं की दुर्गापूजा में भाग लेते थे। गांवों और कस्बों में हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के मेलों में सम्मिलित होते थे।

मध्यकालीन बंगाल में हिदुओं ने कुरान से शकुन विचारने की प्रथा को अपना लिया था और ग्रमीण मुसलमान विवाह इत्यादि शुभ कार्यों के लिए ब्राह्मणों से शुभ मुहुर्त निकलवाते थे। लोकस्तर पर इस्लाम यहां इतना घुलमिल गया था कि विवाह संस्कार का अनेक रस्में जिसमें मंगनी भी सम्मिलित है (जो कि एक हिंदू मूल का शब्द है।) मुस्लिम समाज ने अपना ली थी। मुसलमानों ने गर्भवती स्त्रियों से संबंधित हिंदूओं के अनेक विधि–निषेधों को भी अपना लिया था, उदाहरण के लिए चंद्रग्रहण के समय प्रवास करना और नए कपड़े न पहनाना, या बुरी नज़र से बचने के लिए मेंहदी का प्रयोग करना। इसी प्रकार सालगिरह वर्षगांठ मनाना और विधवा स्त्रियों का शोक प्रकट करने के लिए कांच की चूड़ियां तोड़ना आदि भी हिंदू रिवाज हैं जिन्हें मुसलमानों ने भी अपना लिया है।

मध्यकालीन संस्कृति में मध्यकालीन काव्य की पृष्ठभूमि है। जिस प्रकार गंगा छोटी–छोटी पतली जलधाराओं के मिलने से बनती हैं उसी प्रकार मध्यकालीन संस्कृति का विकास अनेक संस्कृतियों के मिलने से हुआ है। शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन, मुस्लिम संस्कृति का रसायन ही मध्यकालीन संस्कृति का मातृर्द्रव है। इस काल में वैष्णव धर्म का विशेष प्रभाव रहा है। इसी धर्म का विकास राम एवं कृष्ण भक्ति धारा के रूप में हुआ है। कृष्ण भक्ति धारा का मूल स्रोत भागवत है। भागवत से मध्यकालीन कृष्ण कवियों ने प्रेरणा ग्रहण की है। कृष्ण की सगुण–भक्ति की परम्परा के प्रवर्तन में बल्लभाचार्य का विशेष अवदान है उन्होंने पृष्टिमार्ग के द्वारा कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया। उनके पूर्व शंकराचार्य ने संसार को मिथ्या कहा था। बल्ल्भाचार्य ने संसार को भी सत्य बताया तथा कृष्ण कृपा में भक्त के समस्त समस्याओं का समाधान दिखाया।

कृष्ण भक्ति धारा के विकास में कृष्ण के स्वरूप एवं तत्कालीन परिस्थितियों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। परिस्थितियों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं– सामाजिक परिस्थितियॉ एवं सांस्कृतिक परिस्थितियॉ। सामाजिक परिस्थितियों में ही सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी विकास होता है। सांस्कृतिक परिस्थितियों में मनुष्य के सूक्ष्म चिन्तन की अभिव्यक्ति होती है। इस अध्याय को तीन भागों में बांटकर मध्यकालीन संस्कृति का अध्ययन किया गया है। तीनों का लक्ष्य मध्यकालीन काव्य परम्परा की समन्वयशीलता को दिखाना रहा है। प्रथम खण्ड में मध्यकालीन संस्कृतिका विकास दिखाया गया है। द्वितीय खण्ड में काव्य में व्यक्त समन्वयशीलता को प्रस्तुत किया गया है तथा तृतीय खण्ड में संस्कृति के तत्व, साहित्य एवं कला का निदर्शन किया गया हैं। काव्य में संस्कृति अनिवार्य रूप से विद्यमान रहती है इस तथ्य के साथ काव्य–परम्परा का उल्लेख मध्यकालीन संस्कृति में किया गया है रसखान के काव्य में जो प्रेम का विराट प्रवाह है उसके गर्भ में सांस्कृतिक अन्वय की अन्विति है।

अध्याय–2

संदर्भ–ग्रन्थ :–

क्रमांक

पृष्ठ – 51. ऋग्वेद 1/164/43, 5/3/1–2

'' (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 112

52. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 88।

'' भागवत् एकादश स्कन्ध : श्लोक, 48

53. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 98

54. वही पृष्ठ 58

55. वही पृष्ठ 99

56. कार्पेण्टर : कम्प्रेटिव रिलिजन, पृष्ठ 134

57. तंत्रालोक : (88/2)

58 (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 400

69 दुर्गासप्तशती (11/5)

60. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 77

61. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 101

62. वही पृष्ठ 102

63. वही पृष्ठ 103

64. वही पृष्ठ 104

65. वही पृष्ठ 103

66. वही पृष्ठ 105

67. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 105

68. वही पृ0 175

69. The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra - B.M. Barua, Page : 437.

70. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 176

71. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 103

72. तत्रैव : पृ0 103
73. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील, पृ0 371
74. तत्रैव : पृ0 321
75. तत्रैव : पृ0 321
76. भगवद्गीता – 8, 21–22, एवं 15, 16–18
77. भारतीय दर्शन : आलोचन एवं अनुशीलन, पृष्ठ 324
78. वही पृष्ठ 324
79. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील, पृ0 323
80. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 109
81. डॉ. चन्द्रधर शर्मा : भारतीय दर्शन आलोचन और अनुशील, पृ0 324
82. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 197
83. डॉ0 रामकुमार वर्मा : हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ 489
84. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 110
85. वही पृ0 110
86. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 199
87. वही पृष्ठ 201
88. वही पृष्ठ 203
89. सूर सागर – भ्रमरगीत –
90. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 205
91 वही पृष्ठ 209
92. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 116
93. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 209
94. वही पृष्ठ 119

95. वही पृष्ठ 211

96. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 234

97. वही पृष्ठ 235

98. वही पृष्ठ 236

99. (सं0) विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ0 108

100. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 236

101 हिन्दी साहित्य का इतिहास (डॉ0 नगेन्द्र), पृ0 238

102. (सं0) विद्यानिवास मिश्र : रसखान रचनावली, पृ0 24

103. (सं0) डॉ0 नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 268

104. वही पृष्ठ 270

105. वही पृष्ठ 271

106. डॉ0 हरिश्चन्द्र वर्मा : मध्यकालीन भारत–भाग–2, पृ0 532

107. वही पृ0 536
108. वही पृ0 539